श्रीमद् रामहर्षणदासजी महाराज

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय		पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

---:०:---

पंच रसाचार्य स्वामी श्रीमद् रामहर्षण दास जी महाराज
श्री अवध धाम

नम्र निवेदन

मनीषियों ने सम्पूर्ण श्रुतियों शास्त्रों और पुराणों के सागर का मन्थन करके वैष्णव धर्म रूपी सर्वश्रेष्ठ, सुन्दर, सुरम्य रत्न को निकाला है, जिसके वैशिष्ट्य, वैलक्षण्य एवं अनुपमेयत्व का दिग्दर्शन कराने के लिए स्वयं ईश पद वाच्य श्रीमान शंकर भगवान परम वैष्णव बन गये (वैष्णवानां यथा शम्भु:)। ब्रह्मा, नारद, सनक, सनन्दन, शेष, पराशर, व्यास, शुक, शौनक, शाण्डिल्य, गर्गाचार्यादि ऋषि तथा पृथु, अम्बरीष, रुक्माङ्गद, पुंडरीक, प्रह्लाद, विभीषण, हनुमान, राजर्षि एवं मनुष्येतर जातियों ने भी शिरसा ग्रहण किया। इस धर्म की व्यापकता किसी आस्तिक से अविदित नहीं है। देव, दैत्य, नर, नाग, पशु, पक्षी कुलोत्पन्न कई लोगों ने समवेत स्वर से भागवत् धर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और अपने को उक्त धर्म में लगाकर परम भागवत् पद पाने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

वैष्णवता की सुधा सबको समान रूप से पिलाकर सबको अमृत बनाने एवं अमृतानुभव कराने के लिये स्वयं श्री जी, शंकर जी, ब्रह्मा जी तथा सनक जी ने वैष्णव धर्म के अनुयायी और प्रवर्तकाचार्य बनकर वैष्णवीय विज्ञान का प्रचार और प्रसार किया। तदोपरान्त अनेकानेक वैष्णवाचार्यों से वैष्णवता की बेलि विवर्धित करने का कार्य सम्पादन होता चला आया है। बौद्ध धर्म के आक्रमण से वैष्णवता की न्यूनता न सहकर प्रभु प्रेरणा से भगवत् स्वरुप श्री रामानुजाचार्य, श्री रामानन्दाचार्य, श्री माध्वाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य और श्री वैष्णवाचार्य जैसे महापुरुषों ने अवतार लेकर पुन: सूखती हुई वैष्णव धर्म की लता को अपने अमृतोपम उपदेश से सींच कर लहलहाया। उक्त आचार्यों की अनुकम्पा एवं प्रताप से आज इस घोर कली में भी अधिक लोग वैष्णव धर्म के अनुयायी हैं और रहेंगे क्योंकि यह धर्म स [illegible]।

विष्णु, वैष्णव, वैष्णव-धाम और वैष्णवता कहने मात्र को चार हैं किन्तु सभी विष्णु (व्यापक ब्रह्म) के स्वरूप परम तत्व हैं। चार में

किसी एक का भी स्पर्श विष्णु-पद वाच्य परम पद को प्रदान करता है, किं पुन: चारों का स्पर्श।

वेद काल से लेकर वर्तमान काल तक वैष्णव-रहस्य के अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। वैष्णवीय-विज्ञान का विविध प्रकार से दर्शन वैष्णव समाज में दृष्टिगोचर हो रहा है। जिसके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से वैष्णव-पद पर आरूढ़ होना सद्गुरु कृपा से सहज हो जाता है। अस्तु हम ऋषियों, महर्षियों एवं वैष्णव-पद प्रतिष्ठिति पूर्वाचार्यों के ऋणी हैं, जिन्होंने मुझ जैसे कलि की मूर्ति को अपने उपदेश से धर्म की ओर आकृष्ट कर वैष्णवों का किंकर बना दिया है। कृतज्ञता प्रकट करते हुये आप श्री जनों के चरण कमलों में कोटि-कोटि साष्टाङ्ग प्रणाम करके जन्म-जन्म वैष्णवत्व पाने की याचना करता हूँ।

दास ने वैष्णवीय-विज्ञान लिखने का चापल्य वैष्णव समाज की कमी की पूर्ति के लिए नहीं किया है, अपितु सिन्धु को एक अञ्जली जल तथा भगवान भास्कर को एक नगण्य दीप समर्पित करने के समान कैंकर्य किया है, वह भी अपने बल पौरुष से नहीं। भागवतों और आचार्यों की उच्छिष्ट वाणी ही किंकर की वाणी है। अपने इस अबोध शिशु की तोतरी वाणी को मेरे (संत स्वरुप) माता-पिता अवश्य श्रवण करेंगे, ऐसी आशा करता हूँ। धृष्टता एवं त्रुटियों के लिए क्षमा याचना करते हुए वैष्णव-चरण-रज की भक्ति चाहता हूँ। मेरे परम उदार भागवतों के कर-कमल दास के शीश पर फिरते हुये याचक की झोली अवश्य भरेंगे।

वैष्णव-चरण-रज कृपाभिलाषी
निवेदक एवं ग्रन्थ लेखक
राम हर्षण दास
राम हर्षण कुंज, श्री अयोध्या

दिनांक : माघ कृष्ण ३०
सम्वत् २०३०
२३ जनवरी, १९७४

॥ श्री सद्गुरु चरण कमलेभ्यो नमः ॥
सर्वेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमः
ॐ नमः सीतारामाभ्यां

१. शिष्य का प्रश्न

शिष्य : हे मेरे सद्गुरुदेव ! आप श्री वैष्णव-कुल-कमल के विकासक साक्षात् सूर्य हैं, प्रकाश ही आपका स्वरुप है। आपके आलोक से ही जड़-चेतनात्मक जगत आलोकित होता है, आप बोध के विशुद्ध विग्रह हैं, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय पद वाच्य स्वयं मेरे श्री आचार्य देव वैष्णव पद-प्रतिष्ठित महाविष्णु हैं, श्री चरण ही उपायोपेय हैं, स्वयं श्री अपने आर्ताधिकारियों की आर्तता अवलोकन कर अज्ञापित तत्व को भली-भाँति ज्ञापन कराने वाले ही केवल नहीं, अपितु अपना सर्वस्व संप्रदान कर अपने स्वरुप से अभिन्न अर्थात, प्रकाशमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, मंगलमय, अमृतमय, प्रेममय एवं रसमय बना देने वाले हैं। रसिकजनों के मन-मानस में नितान्त निर्मल प्रेम की पयस्विनी प्रवाहित होकर उसमें रसमय अनेकानेक भावों की तरंग मालिकाओं का अनवरत आन्दोलन उठते रहना आप ही के कृपा प्रसाद का साक्षात् प्रमाणीकरण है। वैष्णव ज्वर (वैष्णवीय जिज्ञासा) के प्रशमनार्थ आपकी अमृत वाणी ही अचूक औषधि है, अज्ञानान्धकार के निवृत्यर्थ आपकी वचनावली ही किरण माली की किरणें हैं, आपका सहज स्वरुप विधि-हरि-हर से वन्दनीय एवं स्पृहणीय है, आप संशय-वन में बिहार करने वाले मन रूपी मदोन्मत्त गज के गण्डस्थल को विदीर्ण करने वाले बलवान सिंह हैं, भ्रम रूपी मूषकों के भगाने में बिड़ाल जैसी आपकी वाक् विसर्गता है।

आपकी वाणी ही वेद है, जिसका रहस्यार्थ आपकी रहनी से साङ्गोपाङ्ग समझा जा सकता है। वेद-वेद्य परब्रह्म रस रूप से आप के हृदय-कमल के कोष में समग्रतया संप्रतिष्ठित है, जिसकी गंध को ग्रहण करने वाले आसक्त रसिक भ्रमर यत्र-तत्र से अपने आप बिना आमंत्रण के एकत्रित होते रहते हैं, उन अभ्यागतों के संतृप्ति हेतु अहर्निशि मधुरस श्रवता रहता है परन्तु उस कोष में कभी न्यूनता नहीं आती, जबकि प्रत्येक मधुप उतने पूर्ण मकरन्द का पान कर लेता है कि जितना उस अक्षय भण्डार में भरा होता है।

अस्तु, हे करुणा वरुणालय ! आपके युगल पादारविन्दों में मेरा कोटि-कोटि साष्टाङ्ग प्रणाम है। हे शिष्यों के सर्वस्व ! इस दीन दास के उरस्थली में वैष्णवीय रहस्यों के समझने की बलवती जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है। आप अन्तर्यामी हैं, यदि इसे अधिकारी समझें तो सर्व प्रथम यह बताने की महती कृपा करें कि विष्णु एवं वैष्णव किसे कहते हैं ? तत्पश्चात अन्य-अन्य वैष्णवीय तत्वों एवं वैष्णवता का वर्णन तब तक करें जब तक विष्णु-वैष्णव और वैष्णवता का चित्र मेरे चित्त-पटल पर चारुतया चित्रित न हो जाय।

-----o-----

२. विष्णु-वैष्णव-परिभाषा (गुरु जी का उत्तर)

गुरु : प्रिय वत्स ! सद्गुरु सच्छिष्य को अपना सर्वस्व प्रदान करने के लिये सदा सुअवसर की प्रतीक्षा किया करते हैं। आर्त जिज्ञासु से कुछ भी छिपाने में वे अपने को केवल असमर्थ ही नहीं पाते वरन् शोक-सिन्धु में निमग्न हो जाते हैं। तुम समाहित चित्त से अपने प्रश्नों का श्रुति शास्त्र एवं संतानुमोदित सिद्धान्त श्रवण करो।

विष्णु शब्द व्यापकतया वेदों में बार-बार उद्धृत किया गया है, जो पूर्णतम परब्रह्म का वाचक है। यह विष्णु शब्द पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा का विशेषण है, अस्तु उस वेद-वेद्य परब्रह्म को सर्वव्यापी होने से विष्णु कहते हैं, विशेषणतया ग्रहण होने से विष्णु शब्द विष्णु के सभी अवतारों का भी विशेषण है, क्योंकि अवतार काल में भी वह अव्ययात्मा अपनी व्यापकता से पृथक नहीं रहता, उसके स्वरुप में कभी किसी कारणवश किंचित विपर्यय का होना असंभव और अशक्य है।

पालनात्मिका शक्ति समन्वित रमा बैकुण्ठ के अधीश्वर भगवान का नाम विष्णु विशेष होने का यही हेतु है कि वे व्यापक ब्रह्म अलग अस्तित्व नहीं रखते। सृष्टि-संरक्षण के लिये चतुर्भुज रूप से ब्रह्म ही उक्त लोक में प्रतिष्ठित हैं। "सभी अवतार व्यापक ब्रह्म के हैं।" मनीषियों ने सबको समझने के लिये प्रत्येक पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारों के स्तवार्थ के स्तोत्रों में विष्णु शब्द का विशेषण जोड़ कर विशेष्य की महत्ता अर्थात् व्यापकता प्रकट की है। अस्तु यह निर्विवाद

सिद्ध है कि व्यापक होने से ब्रह्म को विष्णु कहा जाता है और सभी वैष्णवों को यह सर्वथा मान्य है, इसमें शंका का समावेश नहीं, तार्किकों के तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं।

१-वत्स ! यह सारा का सारा संसार विष्णु पद वाच्य व्यापक परब्रह्म की चिन्मयी लीला है, जो उस महामहिम्न के महिमा की विकासिका है, जिसमें सृजन, संरक्षण और संहार के नाट्य का नैपुण्य विस्तृत रूप से अनवरत दृष्टिगोचर होता रहता है। खेल और खेल का आधार एवं उसकी उपकरण सामग्रियाँ खिलाड़ियों के साथ उसी व्यापक ब्रह्म से निर्मित होकर प्रकट हुई हैं, उसी में स्थित हैं, वही इसके आदि, मध्य और अन्त में प्रतिष्ठित हैं वही ब्रह्म इसको सब ओर से बाहर-भीतर व्याप्त किए हुए हैं, वही इसका निमित्त उपादान और सहकारी कारण है। सरल अर्थ में यह उसी का है, उसी के लिए है, उसी का बनाया है, उसी में प्रतिष्ठित है, इसलिये यह जीव जगत स्वयं और सहज सब का सब वैष्णव है।

निर्विवाद अपत्यर्थ में विष्णु (व्यापक ब्रह्म) से जायमान स्थावर एवं जंगम जगत को वैष्णव कहते हैं परन्तु सभी प्राणी एक स्वर से अपने को वैष्णव स्वीकार नहीं करते, इसमें उनका अज्ञान ही हेतु है जैसे मातृ-पितृ हीन बन में विसर्जित की हुई शिशु-संतति अपने यथार्थ माता-पिता का ज्ञान न रखकर, बड़े होने पर भी कोल-किरातों के बीच में रहने के कारण उन्हीं में अपनी गणना करती है, ठीक इसी प्रकार वास्तव में वैष्णव होते हुये भी दुनिया अपने को अवैष्णव मानती हुई अवैष्णवता पर आरूढ़ होती है। अवैष्णवता अंधकार की ओर ले जाती है, अस्तु अवैष्णव अंधकार में प्रवेश करते हैं। वैष्णवता प्रकाश में प्रवेश कराती है, अतएव वैष्णव उज्ज्वल अक्षय आलोक में संप्रविष्ट होते हैं। यदि कोई घोड़ा अपने मालिक की अवहेलना करके अपनी पीठ पर स्थित रहने नहीं देता, बार-बार उसे फेंक देता है, तो वह अश्व-पति उस घोड़े को घोड़ा-गाड़ी में जोतने एवं गोन लादने के काम में ले लेता है जिससे उस बद्तमीज घोड़े को भार वहन करते-करते कठिन से कठिन कष्ट का अनुभव करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार अपने परम पिता भगवान की संतति अपने को न मानने वाले कृतघ्नी जीवों को क्लेश का शिकार होना पड़ता है।

२- सर्वाङ्गतया सदा सर्वभावेन विष्णु पद वाच्य सगुण स्वरूप पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतार की अनुकूलता ग्रहण करने वाले ही वैष्णव कहलाते हैं।

३- पूर्णतम् परब्रह्म परमात्मा के सगुण साकार स्वरूप में अनन्यतया उपासना एवं प्रपत्ति करने वाले विष्णु के अनुयाई वैष्णव कहलाते हैं। राम, कृष्ण, नारायण, नृसिंह, वामन, वाराह और हरि सभी शास्त्रानुमोदित व्यापक ब्रह्म के स्वरूप हैं, अस्तु, सभी का विष्णु शब्द विशेषण है। सभी को विष्णु कहते हैं, इसी प्रकार सभी भगवत् अवतारों के अनन्य उपासकों को वैष्णव पुकारते हैं।

४- जिस प्रकार मंगल सूत्रादि वाह्य वेष, वेद वर्णित विधि से धारण करके, तथा अन्त: करण से प्रीति, प्रतीति पूर्वक पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई अनन्यतया पति सेवा करने वाली स्त्री को ही सती साध्वी एवं पति परायणा कहते हैं, उसी प्रकार गुरु प्रदत्त पंच संस्कार से सम्पन्न होकर हृदय से भगवदनुकूलता धारण करने वाले कैंकर्य परायण अनन्य भागवत को वैष्णव कहते हैं।

५- चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर को ही ब्रह्म कहते हैं। जीव और प्रकृति उस व्यापक ब्रह्म के शरीर हैं और वह शरीरी है। अस्तु इन तीनों के परिपक्व ज्ञान में जो निष्ठावान हो, अर्थात् आचार्य की अनुकम्पा से उपर्युक्त तत्वों को भली-भाँति समझ लिया हो या जिसे समझने की परम जिज्ञासा हो, तत्वज्ञान को ही अपना विषय बना लिया हो, उसे वैष्णव कहते हैं।

६- जो भगवत एवं भागवत द्वेष विहीन है, जिसे भागवद्धर्मावलम्बन ही अनुष्ठानीय है, वही वैष्णव कहलाने योग्य है, उसी को वैष्णव कहते हैं।

७- जो भगवद्भक्तों की ऐहिक और पारमार्थिक वृद्धि देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा पराभव के श्रवण मात्र से शोक सागर में निमग्न होने लगता है, वही वैष्णव है।

८- जिसकी कहनी और करणी आन्तरीय रहनी में घुल मिलकर भागवद्धर्म की परिचारिका बनी हुई हो, वही वैष्णव है।

९- जो सर्व भूतों का सहज अनुकूल सेवक है, जीव जगत के कल्याण की कामना ही एक मात्र जिसकी कामना है, कामना ही केवल नहीं, जिसका सम्पूर्ण प्राणिवर्ग के हितार्थ मन, वचन, कर्म, एवं तन-धन सभी सम्यक् प्रकारेण समर्पित है, आत्मवत् सबके सुख-दुख का अनुभवी है, सभी का सहज सुहृद है, कीट-पतंग के दुख को भी देख जो संतप्त हृदय होकर दुख मूर्छा को प्राप्त होता है, वही सच्चा वैष्णव है क्योंकि वह विष्णुमय जगत की परिचर्या को ही अपना प्रधान धर्म समझता है, उसके हृदय में स्वार्थ की गंध कहाँ ? वह दया की मूर्ति होता है। उसकी सारी विभूतियाँ परोपकार के लिये होती हैं, घट-घट में उसे ब्रह्म के दर्शन होते हैं।

१०- जिसमें नीच वचन सहने की क्षमता है, जो अहंकार से सर्वथा विमुक्त है, जिसके हृदयाङ्गण में दया-दारिका अनवरत नव-नव नृत्य करती हुई जड़ चेतनात्मक जगत के उपभोग के लिये होती है, जिसके हृदय में क्रोध के उभाड़ कभी नजर नहीं आते क्योंकि उसकी दृष्टि सर्वभूतों में अपने व्यापक ब्रह्म (विष्णु) का दर्शन करने वाली है, अत: वही वैष्णव है।

११- जो वाङमय वेद-विष्णु के वाक्यों का सदा समादर करते हुये सदाचार से संयुक्त और अनाचार से वियुक्त रहने के स्वभाव वाला है, उस सर्वभूत हितैषी आर्य पथावलम्बी भगवान के भक्त को वैष्णव कहते हैं।

१२- जो जन-जन का अपराध सहन करता है, अपराधी के कल्याण की कामना रखते हुये समय आने पर उसके साथ आर्योचित व्यवहार करता है। विश्व यदि वह्नि बने तो उसके शांति के लिये जिसका मुख पानी बना रहता है, शब्द-शस्त्र के प्रहार को जो उपदेश समझता है, घट-पट में व्यापक मृत्तिका और सूत्र की भाँति अपने व्यापक ब्रह्म (विष्णु) का घट-घट में जो दर्शन करने वाला है अस्तु वह किस पर क्रोध करे। बस उसी को वैष्णव समझना चाहिए।

१३- वैष्णव पद्धति सुर-बीथिका, जिस जनमानस-गगन में अहर्निशि एक रस उदित होकर इतरजनों की पथ-प्रदर्शिका बनी रहती है, जिसके कीर्तिचन्द्र में आसुरीय वृत्ति के राहु का कभी संस्पर्श नहीं

होता, जो वैष्णव जगत में रुचिकर एवं प्रिय दर्शन वाला है, उसी को वैष्णव समझना चाहिए।

१४- जो भगवान के श्रेयाति श्रेय गुण-मुक्ताओं को एकत्रित कर, आत्म-सूत्र में पिरोकर अपने हृदय का हार बनाये रहता है। जिसकी गुण-गाथा विष्णु के अतद्रूप हेय गुणों से सदा असम्बन्धित होती है, उसी को वैष्णव समझना चाहिए।

१५- जो भगवन्नाम पूर्वक दासान्त नाम वाला हो, जो विष्णु के आयुधों (धनुर्वाण, शंख-चक्रादि) को धारण करने वाला हो, जिसके गले में तुलसी की दाम एवं ललाट में ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित हो, जो अपने भगवान के नाम कीर्तन का व्रत ले लिया हो, मूल-मंत्र का परम भक्त हो, रूप का ध्यान करते हुए सदा इष्ट की लीला चिंतन में लगा रहता हो, जो धाम निष्ठा वाला हो, वही वैष्णव है।

१६- जिसे यह जगत ज्यों का त्यों रहते हुए भी वैष्णव पद (परम पद) सा भासित होता रहता है, स्वप्न में भी संसार नाम की कोई पृथक वस्तु का अस्तित्व जिसके मन में नहीं रहता है, वही वैष्णव है।

१७- जिसके पाप विष्णु के वियोगाग्नि में भस्मीभूत हो चुके हैं, प्रभु मिलन की अत्यन्त उत्कण्ठा में जिसकी पुण्य राशि भी उपेक्षित होकर उसके सम्मुख आने में असमर्थ हो गई है, वही वैष्णव है।

१८- भौतिक सम्बन्ध का विच्छेद कर भगवान के साथ जिसका सहज-सम्बन्ध हो गया है, जो भगवत् तत्व समझकर अनन्य प्रयोजन हो चुका है, अनन्य शेषत्व, अनन्य भोगत्व और अनन्य शरणत्व भाव से भावित होकर जो निश्चिन्त हो गया है, वही वैष्णव है।

१९- जिसका स्वभाव भगवद्भजनमय है, जिसकी जीवन पद्धति दैवी संपति से संयुक्त है, वही वैष्णव है।

२०- जो आचार्य एवं आचार्य-प्रदत्त भगवत मंत्र तथा भगवान में एक ही परम तत्व का दर्शन करता हुआ तीनों का परम भक्त होता है, वही वैष्णव है।

२१- मूल मंत्र, मंत्र द्वय और चरम मंत्र में जिसका भली-भाँति अधिकार हो गया है, जो इनके अनुसंधान और अनुष्ठान में सदा संलग्न रहता है, वही वैष्णव है।

२२- अन्याश्रय का परित्याग कर भगवान विष्णु के अवलम्बन को ग्रहण करने वाले तदीय जनों को वैष्णव कहते हैं।

२३- जो भगवत स्मरण मात्र से प्रेम की प्रगाढ़ अवस्था को प्राप्त कर प्रेम विभोर हो जाता है, जिसके शरीर से प्रेम के समुज्वल प्रकाश की किरणें निकल-निकल कर लोक को प्रकाशित करती रहती हैं, सात्विक भाव से भावित होकर जिसने अपने आप को खो दिया है, वही वीर वैष्णव हैं क्योंकि वह प्रभु प्रेम का पुजारी है।

२४- जो भगवान के वियोग में अत्यन्त आर्ति दशा में सदा स्थित रहता है। इष्ट दर्शन की त्वरा में जो अपने शरीर को नहीं सहता, विरह की दसों दशाओं के पालने में उन्मत्त होकर जो झूलता रहता है, वही संप्रवीर वैष्णव है।

२५- जो भगवान की अपृथक भूता "श्री" विशेषण सम्पन्ना अचित्यानन्त शक्ति के सहित विष्णु पद वांच्य परब्रह्म की भक्ति एवं प्रपत्ति करता है, उसे श्री वैष्णव कहते हैं अर्थात मधुरातिमधुर मिथुन मनमोहनी जोड़ी लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण, सीताराम के अनन्योपासकों को ही श्री वैष्णव कहते हैं।

२६- मंत्र द्वय के श्रीमत् शब्द के यथार्थ अर्थ रहस्य को समझकर जो प्रपत्ति समय "श्री" जी को पुरुषकारतया स्वीकार करके भोगकाल में युगल जोड़ी का भोग्य अपने को समझता है अर्थात, शक्ति और शक्तिवान (लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण एवं सीताराम जी) को सर्वशेषी, सर्वभोक्ता, सर्वरक्षक समझ अपने को उनका शेष, भोग्य और रक्ष्य मानता है, वही श्री वैष्णव है।

२७- जो युगल स्वरुप में अभेद दृष्टि रखते हुये दोनों के कैंकर्य परायण बना रहता है, दोनों के सुख को स्वसुख और दोनों की इच्छा को अपनी इच्छा समझता हुआ दोनों के प्रेम में विभोर बना रहता है, वही श्री वैष्णव है।

२८- श्री जी की अनुकम्पा से ही दीनानाथ दीनों पर द्रवीभूत होकर अपना परम पद एवं कैंकर्य प्रदान करते हैं ऐसा दृढ़ विश्वास कर जो श्री जी की कृपा प्राप्ति की बाट देखता हुआ भगवद्भजन में अनवरत लगा रहता है, वही श्री वैष्णव है।

२९- मछली यथा जलमय है तथा भगवत स्वरूप श्री मय है। जो श्री जी हैं सो भगवान हैं। जो विष्णु हैं वह श्री जी हैं। इस दार्ढ्यता में स्थित होकर जो युगल स्वरूप का सेवन करता है, वही श्री वैष्णव है।

---०---

३. वैष्णवता के लक्षण

१- जिस वैष्णव के आश्रम-दर्शन करने मात्र से ही संशय और भ्रम से भरे हुये मोह की निवृत्ति होने लगे तो समझना चाहिये कि उस वैष्णव में वैष्णवता ही वैष्णवता समग्रतया विद्यमान है।

२- जिस किसी वैष्णव के समीप पहुँचने पर पापी के हृदय में भी भगवद्भक्ति का स्फुरण होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि यहाँ अवश्य ही वैष्णवता का विकास हो रहा है।

३- जिसके प्रकाश से अज्ञानांधकार से आछन्न पुरुषों की उरस्थली भी प्रकाशित हो उठे तो निश्चय कर लेना चाहिये कि यह वैष्णवता का ही आलोक है।

४- जिस भगवद्भक्त के दर्शन मात्र से मन में सहज ही पवित्रता का प्रोदय हो जाय, साथ ही भगवती-भक्ति-भागीरथी का प्रवाह हृद-प्रदेश में प्रवाहित होकर मन-मरुस्थल को प्लावित करने लगे तो उस वैष्णव में नि:सन्देह वैष्णवता का वास स्थान समझना चाहिये।

५- जिस वैष्णव के संभाषण से स्वस्वरुप और परस्वरुप की झलक बुद्धि के आइने में आने लगे एवं जागतिक आनन्द से विलक्षण आनन्द की अनुभूति आत्मा में होने लगे, निर्विवाद मान लेना चाहिये, कि इस वैष्णव में वैष्णवता के विकास का ही यह प्रमाण है।

६- जिस वैष्णव के स्पर्श से प्रभु प्रेम का प्रकाश, स्पर्श करने वाले के हृदय में प्रकाशित होकर अपने प्रेम किरणों द्वारा उस शरीर के रोम-रोम से फूट-फूटकर अन्य के आँखों का विषय बन जाय, तो जान लेना चाहिये कि उस वैष्णव में सच्ची वैष्णवता के लक्षण पाये जाते हैं।

७- जिस वैष्णव के सहवास से साधक में वैष्णवता के लक्षण बिना प्रयास उतरने लगे तो समझ लेना चाहिये कि उस वैष्णव में वैष्णवता

कूट-कूटकर भरी हुई है, जैसे चन्दन तरु के निकटतम प्रान्त में रहने वाली वृक्षावली में सहज ही चन्दन की सुन्दर सुगन्ध भर जाती है।

८- जिस वैष्णव में सर्वभूत हितैषणा एवं प्राणिमात्र में कृपा, करुणा और मैत्री की दृष्टि से तदनुकूल व्यवहारिकता देखी जाये तो उस भगवद्भक्त में वैष्णवता का समावेश हो गया है, यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये।

९- जिस वैष्णव का स्वभाव भगवद् भजनमय निर्माण हो चुका है, जो भगवद्भागवदाराधन बिना एक क्षण भी अपने जीवन को नहीं सह सकता, जिसकी जीवन-पद्धति दैवी-संपत्ति से संयुक्त है, समझ लेना चाहिए कि उस वैष्णव को वैष्णवता ने वरण कर लिया है।

१०- जिस भगवद्भक्त की वैष्णवीय संपत्ति एवं वैष्णव तेज अन्य साधनावलम्बियों को आश्चर्य में डालकर अपनी ओर आकर्षित करने में सर्वथा समर्थ हो तो समझ लेना चाहिये कि यह वैष्णवता देवी का ही चमत्कार है।

११- जिसका हृदय भक्त और भगवान की भक्ति से ओत-प्रोत होकर अन्य निकटवर्ती बन्धुओं की उरस्थली को अपने जैसा सरस बनाने में पुत्रोत्पति से सर्वथा विलक्षण परमानन्द का अनुभव कराता हो तो यह ज्ञान निश्चय दृढ़ हो जाना चाहिए कि यहाँ सौभाग्य से हमें वैष्णवता के दर्शन हो रहे हैं।

१२- जिस वैष्णव का हृदय अन्य वैष्णव के संप्रयोग से संप्रहर्षित होकर भगवत मिलन के आनन्द का अनुभव करने लगे तो मान लेना चाहिए कि यह साधु-समागम वैष्णवता का ही द्योतक है क्योंकि, सुखानुभूति करने वाले सभी सज्जनों में वैष्णवीय प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है।

----०---

४–वैष्णव में श्रद्धा

१- वैष्णव का हृदय श्रद्धा की साकार मूर्ति होता है। उसकी श्रद्धा ही कालान्तर में प्रेमा-भक्ति का स्वरुप धारण कर लेती है।

२- श्रद्धा के कारण ही कोई भी वैष्णव भागवद्धर्म का अनुयायी बन पाता है।

३- श्रद्धा ही के कारण वैष्णव में आस्तिक भावना उदय होकर उस अस्ति के लक्ष्य और आधार भूत भगवान के दर्शन कराने में समर्थ होती है।

४- श्रद्धा ही वैष्णव के हृदय में सम्पूर्ण सद्गुणों का आवाहन करके सदा-सदा के लिए उरस्थल को उनका निवास स्थान बना देती है।

५- श्रद्धावान वैष्णव ही वैष्णवता के विकास का दर्शन अपने में कराने के लिए समर्थ हो सकता है।

---o---

५. वैष्णव में सद्गुरु वरण

१- वैष्णव लोग सद्गुरु की शरणागति ग्रहण करके ही विशुद्ध वैष्णव बनते हैं। उनके ज्ञान में शास्त्रानुसार गुरु-वरण करना अनिवार्य और अपरिहार है क्योंकि वे श्रुति पथ के सम्मान करने वाले संनिष्ठ संप्रवर्तक होते हैं।

२- अज्ञान की अतिशाया निवृत्ति, बिना ज्ञानी गुरु के असंभव और अशक्य है जैसे सूर्य के बिना तम-पूर्ण रात्रि का अदर्शन दुर्लभ ही नहीं अप्राप्य और असाध्य है, अस्तु कल्याण कामी सज्जन सदाचार्य-समाश्रयण करके ही वैष्णव बनते हैं।

३- आचार्यवान पुरुष ही वेद-वेद्य-पूर्णतम-परब्रह्म परमात्मा भगवान के तत्व समझने तथा उनका दर्शन करने और उन्हीं में प्रवेश करने के लिए समर्थ हो पाते हैं इसलिए सज्जन गण वैष्णव गुरु-वरण किये बिना नहीं रहते।

४- भागवद्धर्मों का प्रशिक्षण सदाचार्य के समीप ही संभव हो सकता है, अन्यत्र देवताओं को भी दुर्लभ है। अस्तु, शुद्ध बोध स्वरुप सद्गुरु की प्रपत्ति वैष्णव अत्यन्तावश्यक समझते हैं।

५- अखण्ड ज्ञानैक-रस, सर्व-समर्थ भगवान अपने स्वरुप का बोध तथा अपने प्राप्ति का उपाय बिना गुरु के न बताने का नियम ले रक्खे हैं इसलिए भगवान के वाक्यों का अनुमोदन एवं अनुसरण करते हुए वैष्णव आचार्य-परम्परा को स्वीकार करके सद्गुरु की शरण लेते हैं।

६. वैष्णव में पंच संस्कार विधि

१- ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक धारण करना वैष्णवत्व प्राप्त करने में सहायक है इसलिए वैष्णव तिलक स्वरुप किया करते हैं। जो वैष्णव शास्त्र सम्मत है।

२- विष्णु प्रिया श्री तुलसी-दाम को वैष्णव इसलिए धारण करते हैं कि उन्हें उसके धारण करने से प्रभु का प्यार तुलसी जी के समान ही प्राप्त हो जाता है । भगवान और भागवतों के वाक्य इस विषय में प्रमाण हैं।

३- शंख-चक्र, धनुर्बाणादि भगवान के आयुध हैं, जिनके चिह्न भक्त अपने बाहुमूल में धारण करते हैं, वह इसलिये कि परमपद का मार्ग उनके उरस्थल में प्रकाशित हो जाय, शास्त्र स्वयं इस विषय के साक्षी हैं।

४- मूल मंत्र वैष्णव लोग अपने सद्‌गुरु देव से इसलिये लेते हैं कि उन्हें अर्थ-पंचक तत्व जो श्रुति का सार है, प्रत्यक्ष अनुभव में आकर बैकुण्ठ नगर (परम पद) की प्राप्ति करा दे। मूल मंत्र के ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा वैष्णवीय शास्त्रों का सिद्धांत है, जिसे ग्रहण कर वैष्णव इसी देह में उसका अनुभव कर लेते हैं।

५- भगवन्नाम पूर्वक दासान्त नाम वैष्णवों का इसलिये अनिवार्य और आवश्यक होता है, कि उन्हें यह अभिमान सर्व देश व सर्वकाल में बना रहे, कि मैं भगवान के परतंत्र हूँ तथा उनका नित्य शेषभूत सहज दास हूँ, अस्तु तदनुकूल मुझे आचरण भी करना चाहिये, जिससे आत्मा का सहज स्वरुप और धर्म सुरक्षित रहे।

नोट :- उक्त पांचों संस्कार वैष्णव के पंचभूतों की शुद्धि करते हुए मन में पवित्रता तथा बुद्धि में सूक्ष्मता उत्पन्न करके आत्मा और परमात्मा के दर्शन कराने में सक्षम होते हैं, अस्तु ये पंचसंस्कार वैष्णवों में सदा सेवनीय हैं।

७. वैष्णव में आचार्य रुचि परिग्रहीत प्रपत्ति की प्रधानता

१- वैष्णव, आचार्य रुचि परिग्रहीत, सर्वाधिकारिणी, परम स्वतंत्र, अपेक्षा रहित, देहान्तर में ही पूर्ण फल प्रदान करने वाली, प्रपत्ति के पथ का पथिक होता है। वह शुद्ध शरणागति के मार्ग से अपने को विचलित

करने में असमर्थता का अनुभव करता है, क्योंकि प्रपत्ति उसके स्वरूपानुकूल है जो देह के अनन्तर ही परम पुरुषार्थ स्वरुप परम फल प्रदान करती है।

२- वैष्णव अपने को सर्वसाधन हीन एवं सहस्त्रों असह्य अपराधों का भाजन मानता है। इस दशा में वह भगवच्चरणों की शरण लिये बिना अपना किंचित कल्याण किसी प्रकार कहीं भी नहीं देखता, इसलिए प्रपत्ता बनकर प्रपतब्य प्रभु की प्रपत्ति करता है।

३- वैष्णव प्रपत्ति-पथ को निर्विघ्न और आनन्द से ओतप्रोत अवलोकन कर स्वस्वरुप के विपरीत दस दोषों से संयुक्त अन्याश्रय और अन्य साधनों का सहारा सर्वथा परित्याग करके भगवान की शरण में सदा पड़ा रहता है।

४- वैष्णव भगवत - वाक्यों में प्रीति और प्रतीति करके एक भगवान के चरणों में एक बार प्रपत्ति करके अभय और निष्पाप शोक रहित सुख स्वरुप हो जाता है, अस्तु एक प्रपत्ति को ही वह सर्वसाधनमयी, धर्ममयी, गुणमयी और अन्य साधनों से दस प्रकार से श्रेष्ठ समझता है।

५- वेद वाक्य और आचार्य वाणी को सादर ग्रहण करके अहंकार-ममकार शून्य होकर न्यास विद्या का प्रेमी वैष्णव शरणागति का फल एवं प्रभु से रक्षित होने का फल अपने परम प्यारे प्रभु को ही अर्पण कर प्रभु का कैंकर्य करता हुआ प्रभु के लिए प्रपत्ति पथ पर पड़ा रहता है।

नोट - प्रपन्न-वैष्णव की प्रपत्ति में प्रवृत्ति अन्य साधनों की अज्ञानता और आशक्ति के कारण नहीं है, स्वरुपज्ञता ही इसमें हेतु है।

---०---

८. वैष्णव में आचार्याभिमान

१- वैष्णव, स्वाचार्य की सेवा में ही परमानन्द का अनुभव करते हैं। सदगुरु सेवन के अतिरिक्त अन्य सुख-संप्राप्ति का सुअवसर संभव भी हो जाय तो वह उन्हें नहीं चाहिए।

२- वैष्णव, आचार्य की समीपता को ही परमपद समझते हैं, नाममात्र उससे अलग होना नहीं चाहते। किंचित पृथक होने की कल्पना

दुसह दुखदायिनी हो जाती है, कितने ही आचार्याभिमानी वैष्णव गुरु-वियोगाग्नि में जलकर भस्म हो गए।

३- आचार्य मुखाम्भोज विकसित बना रहे अपने आचरण से, बस, वैष्णव का यही परम पुरुषार्थ है।

४- वैष्णव, ध्यान का मूल गुरुमूर्ति, मोक्ष का मूल गुरु कृपा, पूजा का मूल गुरु-पद-रज और मंत्र का मूल गुरु वचन मानते हैं।

५- आचार्यवान् पुरुष अपने आचार्य श्री को पूर्णतम, परब्रह्म, परमात्मा, सनातन-महाविष्णु के साक्षात सगुण-साकार विग्रह मानते हैं। गुरु में मनुष्य बुद्धि उनकी कभी नहीं होती। वे सदा ही सदाचार्य का मङ्गलानुशासन करते हुए शुश्रुषा परायण बने रह कर उनका अनुवर्तन करते रहते हैं।

---o---

९. वैष्णव में गुरु-शिष्य का पारस्परिक व्यवहार

१- सदगुरु सच्छिष्य की आत्मा के कल्याणार्थ अनुष्ठान करके उसके आत्मा की रक्षा करते हैं। शिष्य सादर सप्रेम सद्गुरु के शरीर की रक्षा के लिए शुश्रुषा परायण रहना परम पुरुषार्थ समझता है।

२- सद्शिष्य सद्गुरु को अपने समेत अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है। सदाचार्य अपने जिज्ञासु शिष्य को परम परमार्थ सम्बन्धी अपना सर्वस्व ज्ञान सम्यक् प्रकारेण प्रदान कर देते हैं।

३- सद्गुरु शिष्य को परमात्मा का सम्यक् बोध कराकर अप्रमेय अमूल्य परम पद के सहित प्रभु को देकर अल्प, असत और नश्वर द्रव्यादि के लिये शिष्य के हाथ के नीचे अपना हाथ नहीं करते, परन्तु शिष्य अपने आत्मा सहित शरीर सम्बन्धी वस्तु को सद्गुरु देव के श्री चरणों में समर्पित किये बिना स्वस्वरुप की हानि समझता है।

४- सद्गुरु और शिष्य एक दूसरे के हित में लगे रहते हैं क्योंकि शिष्य अपने से अपनी आत्मा की रक्षा करे तो स्वस्वरुप भ्रष्ट होता है इसी प्रकार गुरु अपने से अपने शरीर की रक्षा करें तो उनका स्वस्वरुप नष्ट होता है।

५- सद्गुरु अपनी वस्तु से अपना निर्वाह करते हैं अर्थात अहंकार

शून्य शिष्य जब शरण में आया उसी समय गुरु को सर्वात्म समर्पण कर दिया तो सब वस्तु गुरु की हो गई, इसलिये जो शिष्य अपनी बनाकर पुन: गुरु को देते हैं, उसे वे विष तुल्य समझकर नहीं ग्रहण करते। शिष्य अपना निर्वाह गुरुदेव के प्रसाद से करता है क्योंकि उसके पास जो कुछ भी शरीर रक्षा के लिये है, वह सदाचार्य का है। शिष्य अपने आचार्य को साक्षात् विष्णु समझकर तदनुसार सादर सप्रेम कैंकर्य परायण बना रहता है। आचार्य शिष्य को वैष्णव समझकर तत्व समझाने की सेवा करते हुये कुपथ में उसके मनमानी गमन के न रोकने का अपराध नहीं करते।

---०---

१०. वैष्णव में गुरु परम्परा का महत्व

१- वैष्णव अपने आचार्य-परम्परा का अनुसंधान इसलिए करते हैं कि परम्परा के आचार्यों से अपने सम्बन्ध की हानि न हो क्योंकि गुरु परम्परा के बिना प्रपत्ति भी उपायान्तर के समान है।

२- आचार्यों का नित्य अनुसंधान पूर्वक स्मरण करने से उनका ज्ञान गुण-गणों के साथ अपने में उतर आता है, अस्तु, गुरु परम्परा नित्य स्मरणीय है।

३- आचार्यों के कुल के हम हैं, इस प्रकार का अभिमान बना रहने से भगवान भागवत सम्बन्धी को अपना परम पद देते हैं, यह शास्त्र सम्मत संतों का दृढ़ निश्चय है।

४- भक्तों का भजन करने से भगवान का भजन स्वयं हो जात है, जिसका परम फल भी दासों के दास को सहज ही सुलभ होता है। अस्तु आचार्य परम्परा में प्रेम होना अनिवार्य है।

५- प्रपन्न चेतन के, आचार्यों के कृत्यों को देखकर भगवान उनके वंशोद्भव दासों के दोषों को विस्मरण कर अपराध करने पर भी अपना परम पद देते हैं, इसलिये वैष्णव आचार्य परम्परा का नित्य स्मरण कर आचार्यों से अपना सम्बन्ध जाग्रत रखते हैं।

नोट :- प्रत्येक वैष्णव अपने आचार्य-परम्परा का ज्ञान उसी प्रकार रखता है, जैसे ब्राह्मण अपने-अपने कुल, गोत्र, शाखा, सूत्र-प्रवर और

वेद-देवता इत्यादि से युक्त अपने पिता, पितामह, प्रपितामह के प्रति परम श्रद्धा रखते हुए और-और पूर्वजों का ज्ञान रखता है।

---०---

११. वैष्णव में प्रभु सेवा समझ कर शिष्य करने की विधि

१- वैष्णव किसी भी शरणागत चेतन को शिष्य करते समय "मैं आचार्य हूँ" ऐसा मन में भी नहीं आने देते। वे मंत्र द्वय तथा गुरु परम्परा का स्मरण कर अपने आचार्य की आधीनता स्वीकार किये हुये परम्परा-विस्तार के लिए एवं भगवान के सेवार्थ शिष्य को मूल मंत्र प्रदान करते हैं।

२- गीतोक्त भगवद्-वाक्य हैं, कि जो गुह्यतम प्रपत्ति परक उपदेश मेरे भक्तों को (शरणागत चेतनों को) श्रवण कराकर उसे धारण कराता है, वह मेरी पराभक्ति कर चुका। मुझे उससे अधिक कोई प्यारा नहीं है, अस्तु सद् वैष्णव प्रभु प्रसन्नता के लिये अहं रहित रहस्यत्रय का उपदेश करके शिष्य बनाते हैं।

३- शरण में आये हुये चेतन का आतिथ्य सत्कार अपने वचन के द्वारा सदाचार्य किया करते हैं, न कि स्वार्थ का अनुसंधान करके। यह उनका महत् कार्य प्रभु-प्रीत्यर्थ ही होता है।

४- शिष्य के दिये हुये सर्वस्व दान-अर्थात् आत्म समर्पण को सद्गुरु, भगवान के लिये अर्पण कर देते हैं। तत्पश्चात स्वयं शिष्य के लिये अपना सर्वस्व प्रदान करके ही कृतकृत्य होते हैं, जिसमें स्वार्थ और अहं का सर्वथा अभाव बना रहता है।

५- शिष्य करते समय सद्गुरु अपने आचार्य का स्मरण कर शिष्य के साथ आचार्य के समान ही प्रतिपत्ति करते हैं। उसका प्रकार यह है कि अहा यह दास तो अल्पज्ञ अज्ञानी जीव है, जड़वत इसके आचरण हो रहे हैं फिर भी आचार्य देव के अपना लेने से यह जीव मेरी शिष्यता को ग्रहण करने को आया है। इसमें इसी की प्रधानता है जैसे अत्यन्त कामी पुरुष काठ की कामिनी को भी आलिंगन करता है, उसी

प्रकार यह जीव मुझे

केवल वैष्णव वेष से विभूषित देखकर ही अपने आचार्य रूप में वरण कर रहा है, यह कार्य इसके विष्णु भक्ति से भरे हुये हृदय का ही परिचायक है, मेरे नहीं। अस्तु वैष्णव निरभिमानी होकर प्रभु प्रीत्यर्थ ही शिष्य किया करते हैं।

---o---

१२. वैष्णव में भागवत परिचर्या

१- वैष्णव भागवताराधन, भागवताराधन के लिये ही किया करते हैं, वे भक्तों की पूजा को साक्षात् सर्वेश्वर भगवान की सेवा समझते हैं।

२- वैष्णव, भक्त और भगवान में किंचित भेद का अनुसंधान नहीं किया करते। भगवदनुभव के सदृश भागवतानुभव करना उनका सहज स्वभाव होता है।

३- वैष्णव गण बिना संत सेवा के भगवान की सेवा का कोई मूल्य नहीं करते । भक्तों के सेवन से ही भगवान की तुष्टि-पुष्टि समझते हैं।

४- संतों का सन्मान, समागम और अनुभव करना वैष्णव साध्य समझते हैं, साधन नहीं। संत संमिलन के आनन्द में वे भगवान को भी भूल जाते हैं।

५- सत्संग-सुधा का पान करने के लिये (जिसमें भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम की माधुरी ही माधुरी पूर्णतया प्रतिष्ठित है) सदा अतृप्त ही बने रहते हैं इसलिये वैष्णव संतों का सेवन अपना उद्देश्य बना लेते हैं।

---o---

१३. वैष्णव में सत्संग सेवन

१- वैष्णव अपने स्वरुप रक्षा के लिये सत्संग को अपेक्षित तया स्वीकार करके निरन्तर उसका सेवन करते हैं।

२- वैष्णव सत्संग से ही सद्‌गुणों की संप्रवृद्धि समझते हैं, अस्तु, वे सत्संग प्रिय होते हैं।

३- वैष्णव सत्संग को ही प्रभु प्रेमोत्पादक एवं भगवद्दर्शन का दानी जानकर उसका सदा सेवन करते हैं।

४- वैष्णव सत्संग को ही परम साध्य समझते हैं। अस्तु वे संत समागम से विरत नहीं होते।

५- वैष्णव सत्संग-रस के रसिक होते हैं। उन्हें सत्संग के बिना रहने की कल्पना विरह-वेदना की जननी जान पड़ती है। अस्तु वे सज्जनों के समागम के बिना रहने में असमर्थ होते हैं क्योंकि भागवतों की गोष्ठी के बिना भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और स्वभावानुभव के रस का आस्वाद अन्यत्र अप्राप्य ही रहता है।

---o---

१४. वैष्णव का वास स्थान

१- वैष्णव का स्वरूपानुकूल वास स्थान वैष्णवों के बीच में अत्युत्तम और वैष्णवत्व का विवर्धन करने वाला होता है।

२- सद्गुरु के सन्निकट सर्वदा वास करना ही वैष्णव के लिए सर्वोत्तम है। जो सर्वस्व प्रदान करने में समर्थ है।

३- अपने भगवान के अवतार कालीन लीला धाम में अर्चा विग्रह के ग्राम एवं दिव्य-देश वैष्णवोचित वास स्थल हैं।

४- पूर्वाचार्यों की भजन-भूमि वैष्णव को भक्ति भाव में दृढ़ता उत्पन्न करने वाली, वास करने के लिये स्वरूपानुरूप है।

५- पर्वतीय सुरम्य सुखप्रद प्रदेश एवं पवित्र नदियों का किनारा एकाग्रता पैदा करने वाला सिद्धि का सहायक है, वह वैष्णव के सेवन योग्य है।

---o---

१५. वैष्णवों का भोजन

१- वैष्णव का भोजन वैष्णव-प्रदत्त भगवत-प्रसाद ही स्वरूपानुरूप है।

२- सत्यता से धर्मानुकूल स्वयं अर्जित अन्न का भोग भगवान को अर्पण करके ही शीथ प्रसादी सेवन करना वैष्णव के अनुकूल है।

~~प्रसाद पर और मुझे~~ ३- मधुकरी वृत्ति से वैष्णव अपनी क्षुधा शान्ति करे तो वह भी उसके अनुरूप है किन्तु वह अन्न वैष्णव के घर भगवत् अर्पण किया हुआ हो।

४- बिना याचना के अपने आप वैष्णवों से आई हुई द्रव्य का अन्न भगवदर्पण कर प्रसाद पाना वैष्णव के अनुकूल भोजन है।

५- शीला-वृत्ति से इकट्ठा किया हुआ अन्न भगवत-भागवत को अर्पण करके शेष प्रसाद पाकर निर्वाह करना वैष्णव के अनुकूल है।

---o---

१६. वैष्णव की देह यात्रा

१- वैष्णव अपनी देह यात्रा से निश्चिन्त रहता है क्योंकि उसने लोकवेद सहित अपनी आत्मा अपने प्रभु को सर्व भावेन समर्पण कर दिया है, अस्तु, अन्य की वस्तु में स्वत्व का अभिमान वह कैसे करें।

२- वैष्णव अपनी देह यात्रा के विषय में शोच नहीं करता, प्रारब्धानुसार अवश्यम्भावी होकर ही रहेगी ऐसा उसका विश्वास है। अस्तु सहिष्णु बनकर रहने में ही उसे अपना हित दृष्टिगोचर होता है।

३- वैष्णव देह में आसक्त नहीं होता, वह अपना स्वरूप शरीर से सर्वथा भिन्न और विलक्षण समझता है, अस्तु, जिस किसी प्रकार भी शारीरिक निर्वाह में उसे संतोष रहता है।

४- वैष्णव का भौतिक एवं आध्यात्मिक योग-क्षेम, सर्व-समर्थ भगवान स्वयं वहन करते हैं, इसलिये वह अपनी देह यात्रा की चिन्ता नहीं करता।

५- वैष्णव प्रत्येक परिस्थिति को प्रभु प्रेरणा से प्रभु कृपा प्रसाद भूता अपने कल्याण के लिए प्राप्त हुई समझता है, अस्तु, वह सर्वदा निश्चिन्त बना रहता है,चाहे देह यात्रा का संविधान खट्टा हो या मीठा।

---o---

१७. वैष्णवों के कर्म

१- वैष्णवों के कर्म उनके भगवान के मुखोल्लास-विवर्धक कैंकर्य के रूप में होते हैं। उनके किये गये अनुष्ठानों में स्वसुख की कामना नाम मात्र की नहीं होती।

२- वैष्णव के कर्म प्रभु प्रीत्यर्थ एवं प्रेम के पुट से परिपक्व हरि स्नेह को वृद्धिंगत करने वाले होते हैं।

३- वैष्णव के कर्म कर्तृत्वाभिमान रहित फलाशा के स्पर्श बिना अनासक्ति से केवल कर्तव्य बुद्धि तया होते हैं।

४- वैष्णवों के कर्म प्रभु-प्रेरणा से पर हित साधन के लिये होते हैं, स्वयं उन्हें कर्म करने और न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता।

५- वैष्णवों के वेद-विहित कर्माचरण लोक-वेद संग्रह के लिये केवल लीला रूप से जगत की नाट्यशाला में प्रभु प्रीत्यर्थ होते हैं।

---o---

१८. वैष्णव में अकर्मण्यता का अभाव

१- वैष्णव प्रमाद व आलस का विसर्जन करके भगवदर्थ वेद-विहित कर्मों के सम्पादन में सदा संलग्न रहता है।

२- वैष्णव स्वकर्म के द्वारा भगवदभ्यर्चना किया करता है। जीवन पर्यन्त वह कुशल कर्मों के अनुष्ठान में लगा रहता है, अस्तु उसमें अकर्मण्यता प्रवेश नहीं करती।

३- वैष्णव प्रभु प्रीत्यर्थ कैंकर्य करना अपना सहज स्वरुप समझता है, अस्तु वह अकर्मण्य नहीं होता।

४- वैष्णव कायिक, वाचिक और मानसिक भगवान की सेवा करने ही में विश्रान्ति को पाता है इसलिये वह अकर्मण्यता की ओर नहीं झुकता।

५- किसी अज्ञानी व्यक्ति को अपने से अकर्मण्यता का पाठ पढ़ने को न मिले इसलिये वैष्णव लोक संग्रह के लिये अच्युत भावापन्न होकर तदनुकूल कर्मों के अनुष्ठान में लगा रहता है।

---o---

१९. वैष्णव में धर्म का आवास

१- मूर्तिमन्त धर्म ही वैष्णवीय वेषों को धारण कर धर्माचरण से युक्त वैष्णव के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

करता है, अस्तु वैष्णव धर्मात्मा होते हैं।

३- वैष्णव अधर्म को पीठ देकर धर्म के सदा सम्मुख रहते हैं, इसलिए सभी धर्मों का दर्शन वैष्णवों के आचरण मे किया जा सकता है।

४- भगवान के भक्तों में उनके गुण-धर्म स्वाभाविक उतर आते हैं जैसे प्रतिबंध को दूर कर देने से एक खेत का जल दूसरे क्षेत्र में चला जाता है, इसलिए वैष्णव धर्ममय आचरण से युक्त होते हैं।

५- भगवान अपने शरणागत चेतनों को शीघ्र स्वयं धर्मात्मा बना देते हैं, इसलिये वैष्णव धर्म के साक्षात् साकार विग्रह हो जाते हैं।

---o---

२०. वैष्णव में अधर्म का सर्वथा अभाव

१- वैष्णव सात्विक गुण की अधिकता एवं तमोगुण की अत्यन्त न्यूनता से अधर्म में स्वाभाविक प्रवृत्त नहीं होते।

२- सात्विक गुण के मन्दिर, श्रेय गुणों के स्वरूप भगवान के होकर वैष्णव सहज ही अपने को अधर्म से मुक्त हुआ देखते हैं, क्योंकि प्रभु की प्रतिज्ञा है, कि "शरणागत चेतनों को सम्पूर्ण पापों से मैं मुक्त कर देता हूँ।"

३- सद्गुरु के निकट रहकर भागवत धर्मों का अभ्यास करने वाले वैष्णव के मन से कुछ दिनों में पापों की परम्परा के बीज का सर्वथा नाश हो जाता है, अस्तु वैष्णव अधर्म से अलग रहते हैं।

४- सत्संग परायण वैष्णव, संतों की कृपा प्राप्त कर सत्व गुण विशिष्ट संत के स्वभाव वाले बनकर अधर्म के सर्वथा त्यागी बन जाते हैं।

५- वैष्णव पाप के भय से, स्वस्वरूप के हानि के भय से तथा रुचि न उत्पन्न होने से, अधर्म को पीठ दिये रहते हैं।

नोट :- वैष्णव श्रेय गुणों से सर्वदा संयुक्त और हेय गुणों से सर्वथा विमुक्त रहते हैं, क्योंकि उनके भगवान अपने भक्तों को अपनी त्रिसाम्यता प्रदान कर देते हैं।

---o---

२१. वैष्णव में विद्या

१- वैष्णव, वेद शास्त्रीय अर्थ के सार-सिद्धान्त को समझकर तदनुसार आचरण से संयुक्त होता है।

२- वैष्णव रहस्यत्रयी विद्या का विद्वान होता है, जिसे जान लेने पर कोई जानने योग्य तत्व अवशेष नहीं रह जाता।

३- वैष्णव समदर्शिता से संयुक्त प्रत्येक प्राणियों में भवद्दर्शन करता है, अस्तु, वह परम विद्वान होता है।

४- वैष्णव, वेद-वेद्य परब्रह्म परमात्मा भगवान विष्णु के सगुणसाकार और निर्गुण-निराकार रूप का जब अपनी आत्मा में अच्छी तरह अनुभव कर लिया तब उसे कौन सी विद्या प्राप्त करना शेष रह गया।

५- वैष्णव की बुद्धि में जब अत्यन्त सूक्ष्मता आ जाती है, तब वह जो और जब, जैसा जानना चाहता है, तब उस तत्व एवं पदार्थ का तद्रूप ज्ञान उससे अदृश्य नहीं रह सकता, इसलिए वैष्णव विद्या की साकार मूर्ति होता है।

---o---

२२. वैष्णव का कालक्षेप

१- वैष्णवीय-पद्धति से वैष्णवोचित प्रभु प्रीत्यर्थ अनासक्त और कर्तापन के अभिमान से रहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए वैष्णव अपना कालक्षेप किया करते हैं।

२- भगवन्नाम स्मरण, रूप-ध्यान, लीलानुभव और धामनिष्ठा तथा रहस्य त्रयानुसंधान ही से वैष्णव का कालक्षेप होता है।

३- आचार्य के पार्थिव शरीर की सुश्रूषा में रहते हुये उनके रुच्यानुकूल अनुष्ठानों को आचरण में उतारते हुए सद् वैष्णव अपना कालक्षेप किया करते हैं।

४- हरि-चर्चा, हरि-स्तवन, साधु-सेवा एवं सत्संग के साधन की संलग्नता ही वैष्णवों के कालक्षेप की सहायिका है।

५- परहित चर्या को भगवत् सेवा समझते हुए वैष्णव समय का सदुपयोग किया करते हैं।

६- स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपाय स्वरूप, फलस्वरूप और विरोधी स्वरूप के ज्ञानार्जन में वैष्णव का समय व्यतीत होता है।

७- स्वरूप निष्ठ वैष्णव आचार्य के मुखोल्लास विवर्धन हेतु अनुष्ठानों का आचरण करके ही जीवन यापन करते हैं।

८- एकान्तिक वैष्णव भगवान की मानसिक अष्टकालीन सेवा करते हुये प्रेमातिशायता से भगवल्लीला का अनुभव करके कालक्षेप किया करते हैं।

९- परमैकान्तिक वैष्णव भगवत-विरह वेदना को न सहते हुए तदग्नि में जलते ही रहते हैं। अधीरता पूर्ण आह भरी प्रार्थना के साथ अश्रु बहाते हुए उनका सम्पूर्ण समय व्यतीत होता है।

नोट :- उपर्युक्त कालक्षेप की क्रिया वैष्णवों की साध्य स्वरूपा हुआ करती है, साधन स्वरूपिणी नहीं।

---o---

२३. वैष्णव की जीवन-पद्धति

१- वैष्णव की जीवन पद्धति दैवी संपति से संयुक्त अखंड भजन के स्वभाव वाली चिन्ता शून्य होती है। जिसके प्रभाव से वैष्णव अपनी देह-यात्रा एवं आत्म-यात्रा के विषय में निश्चिन्त रहता है, क्योंकि भक्त के दोनों प्रकार के योग क्षेम करने के लिए भगवान स्वयं कटिबद्ध हैं, ऐसा उसका महाविश्वास है।

२- वैष्णव का व्यवहार एवं जीवन-पद्धति श्रुति-शास्त्रानुकूल एवं महज्जनानुमोदित, भागवद्धर्मानुरूप होती है।

३- वैष्णव की जीवन-पद्धति अपनी ऐहिक एवं पारलौकिक कामना से शून्य अपने आराध्य श्री-हरि-गुरु-संत मुखाम्भोज के विकासार्थ होती है।

४- वैष्णव की जीवन-पद्धति में कहीं-कहीं आर्य-पथ के वैपरीत्यता का भी अपवाद रूप में दर्शन होता है, किन्तु जानबूझ कर भक्त के आचरण में यह दोष नहीं प्रविष्ट होता, वरन् विशेष धर्म के उपस्थित होने पर अवरोध करने वाले सामान्य धर्म के विधि-निषेध को शास्त्र स्वयं अपना अनुशासन बावले भक्त के सिर से उठा कर उसे मुक्त कर देते हैं।

५- वैष्णव की जीवन-पद्धति-पर्णशाला शम-दम-सत्संग और विचार रूपी चार स्तम्भों के आधार से सुरक्षित रहती है।

६- वैष्णव की जीवन पद्धति से जगत का कल्याण अपने आप होता रहता है क्योंकि वह परम प्रभावशालिनी, अमृतमयी, और अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न होती है।

७- वैष्णव की जीवन पद्धति से स्थावर और जंगम जगत के किसी भी प्राणी का अहित नहीं होता क्योंकि वह परहित सारिणी और त्रिकरण हिंसा से अत्यन्त दूर रहने वाली होती है।

८- वैष्णव की जीवन पद्धति स्वभावत: दास धर्म से संयुक्त एवं प्रेम पथानुगामिनी होती है।

९- वैष्णव की जीवन पद्धति द्वेष करने वाले के भी अनुकूल और सबको अभय प्रदान करने वाली तथा चन्द्रमा के समान लोक प्रिय होती है।

---०---

२४. वैष्णव का हृदय

१- वैष्णव का हृदय अस्थि मांस से युक्त केवल अवयवी का अवयव ही नहीं होता, वरन् उसके परम प्यारे प्रभु की क्रीड़ा करने की भव्य-भूमि एवं निवास स्थान होता है। जहाँ प्रेम का सरोवर अहर्निशि लबालब भरा हुआ लहराता रहता है, जिससे प्रेम के श्रोत संप्रवाहित होते हुये शरीर प्रदेश को सदा रस सिक्त एवं शीतल बनाये रहते हैं। वह वक्षस्थल वर्णनातीत अनुभव का विषय होता है, उस हृदय से भगवान को क्षणमपि पृथक रहना अशक्य और असम्भव है।

२- वैष्णव के हृदय-सरोवर में विकसित अष्टदलीय कमल उनके इष्टदेव के अष्टयामीय विहार के अनुरूप अष्टकुंज बन जाता है, जिसमें प्रभु की नित्य नव-नव ललित-ललित लीलाओं का उदय और अस्त अनवरत चला करता है।

३-वैष्णवों का हृदय दया का भव्य-भवन होता है। पर-दुख से वह उसी प्रकार द्रवीभूत हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि की आँच से मोम।

पर-दुख दूर करने के उपायों का अवलम्बन वह त्रिकरण लेता रहता है। उस उरस्थली में त्रिकाल किसी के अमंगल की भावना का प्राकट्य नहीं होता। आसुरी संपत्ति वाले भी उससे सदा निर्भय ही रहते हैं। अपकारियों के प्रतिशोध की प्रक्रिया का स्मरण वह कभी नहीं करता। उलटे अपराधी के अपराध को क्षमा कर उसे सुख पहुँचाने के लिये प्रयत्नशील बना रहता है।

४- वैष्णवों का हृदय दिव्यातिदिव्य अनेकानेक सद्गुणों का कोष होता है, जिससे जगत समुदाय का भरण-पोषण एवं निस्तारण होता रहता है, फिर भी उसके श्रेयातिश्रेय गुणों में न्यूनता का दर्शन नहीं होता वरन् वह अधिक प्रकाश में आकर अपने आश्रय दाता के कीर्ति का विस्तार करने लगता है।

५- वैष्णवों का हृदय साक्षात् भगवान होता है, या यों कहिये कि भगवान ही भक्तों के हृदय-रूप में परिवर्तित होकर उनके अहंता-ममता का समूल संहार करके स्वयं प्रकाशित होकर अपने प्रकाश का अनुभव जन समुदाय को कराते रहते हैं।

६- वैष्णवों के हृदय देश में अज्ञान का दर्शन उसी प्रकार अलभ्य रहता है, जिस प्रकार सूर्य में अंधकार का।

७- वैष्णवीय हृदय इतना महान व उदार होता है, कि जिसके असीमित उदारता में चराचर जगत समाया रहता है और जहाँ से सभी जीवों के कल्याण की कामना साकार बनकर प्राणिमात्र को सुख पहुँचाने में सदा संलग्न रहा करती है।

---०---

२५. वैष्णव की दृष्टि

१- वैष्णव की दृष्टि में यह स्थावर-जंगम जगत विष्णुमय दिखाई देता है, घट-घट में उसकी दृष्टि अपने व्यापक ब्रह्म का दर्शन करती है। वास्तविक में यही दृष्टि सत्य से ओत-प्रोत है, जिस प्रकार कलश में मृत्तिका एवं पट में सूत्र सब ओर से व्याप्त है, उसी प्रकार जगत में ब्रह्म ! यदि जगत और ब्रह्म को एक दूसरे का पर्यायी कह दें तो कोई अनर्थाभास होने की संभावना न होगी, ऐसा अपना निश्चय है।

२- वैष्णवों की दृष्टि एकता का दर्शन करके समता से संयुक्त होती है। जिसमें मैं-तू और मेरे-तेरे का सर्वथा अभाव हो जाता है।

३- वैष्णवों की दृष्टि प्रियकर, सरस, सुखद और प्रेम से परिपूर्ण होती है, जिसमें आत्मीयता के भावों की भावना संन्निहित रहती है।

४- वैष्णवता से सुसज्जित वैष्णव करुणा-कृपा से पूर्ण अपनी दयामयी दृष्टि से जहाँ-जहाँ देखता है, वहाँ-वहाँ कल्याण का स्थान बन जाता है।

---o---

२६. वैष्णव का तन

१- वैष्णव-शरीर, वैष्णव-वेष अर्थात् ललाट में ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, गले में तुलसी की कण्ठी, बाहु में भगवान के आयुधों को अवधार्य, राजहंस की तरह शोभा से सम्पन्न होकर संसार में पूजित होता है।

२- वैष्णव-शरीर, वैष्णव-तेज से दैदीप्यमान, चित्त को आकर्षित करने वाला कोमल, कमनीय एवं सुगंध से संयुक्त परम पवित्र होता है। वह जिसका स्पर्श कर लेता है, वह पावन बनकर प्रभु प्रेम का पुजारी व अधिकारी हो जाता है।

३- वैष्णव का शरीर श्री-गुरु-संत और हरि की सादर सेवा करने में निरत रहता है उसे बिना कैंकर्य अपनी साफल्यता नहीं प्रतीत होती उसमें प्रभु प्रेम का प्रकाश (सात्विक भावों का उदय होन) होता रहता है।

४- वैष्णव का शरीर भजनीय प्रभु के भजन का परम सहायक होता है, क्योंकि बिना तन के भगवत भजन बन नहीं सकता, यह वेद का निर्णय है।

५- वैष्णव का तन भगवान से आदरणीय होता है, प्रभु अपने जनों के आत्मा का आदर उनके देह सहित करते हैं, जैसे उशीर (खस) के सुगंध सेवी सज्जन, उसकी जड़ को मिट्टी सहित स्वसमीप में रखते हैं। कभी-कभी यह स्पष्ट देखा गया है कि वैष्णव का स्थूल शरीर भी भगवान में संप्रवेश कर गया या प्राण-प्रयाण समय में सबके देखते-देखते अदर्शित हो गया।

२७. वैष्णव की इन्द्रियाँ

१- वैष्णव की कर्मेन्द्रियाँ भगवत कैंकर्य करने की स्वभाव वाली बन जाती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी भव-रस के आहार का परित्याग कर भगवत-रस की रसिकिनी हो जाती हैं।

२- वैष्णव की ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि बाह्य-विषय-सापेक्ष नहीं रहतीं। वे अन्तरमुखी होकर अपने-अपने विषय को दिव्यता के साथ दिव्य शब्दादि विषयों का सेवन कराती हैं।

३- वैष्णव की इन्द्रियाँ ईश्वराभिमुख्यता को ग्रहण कर आत्मा के उत्कर्ष का सम्पादन किया करती हैं।

४- वैष्णव की इन्द्रियों को भव-रस उतना ही अरुचिकर लगता है जितना कि मनुष्य को उल्टी किया हुआ अन्न।

५- वैष्णव के इन्द्रियों के देवता जिनके हृदय में विषय भोग की अत्यन्तासक्ति होती है, वैष्णव की इन्द्रियों को भव-विषय वाहिनी बनाने में असमर्थ ही रहते हैं।

---०---

२८. वैष्णव का मन

१- वैष्णव का मन, अचंचल और आत्मा का मित्र होता है।

२- वैष्णव का मन, मन-मोहन भगवान से अत्यन्त मोहित रहता है।

३- वैष्णव का मन, परमार्थ सेवन करते-करते परमार्थ रूप ही हो जाता है।

४- वैष्णव का मन, इन्द्रियों को वैष्णवीय आहार के सुखद स्वाद का अनुभव कराकर उनके विषय प्रावण्य को प्रनष्ट कर देता है।

५- वैष्णव का मन, भगवदर्पित होता है, अस्तु, वह भगवान के संकेत से ही मनन करता है। इन्द्रियों को हृषीकेश के रुच्यानुकूल कार्यों के करने की प्रेरणा देता है।

---०---

२९. वैष्णव की बुद्धि

१- वैष्णव की बुद्धि, ऋतम्भरा-प्रज्ञा पद पाने के पश्चात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाती है जिससे वैष्णव स्वस्वरूप, परस्वरूप का अपरोक्ष दर्शनानुभव और ज्ञान कर लेता है।

२- वैष्णव की बुद्धि भगवत-भागवत तत्व के विमर्श में ही लगी रहकर उसी परमार्थ तत्व में विलीन हो जाती है।

३- वैष्णव की बुद्धि-बालिका भगवान को पति रूप में वरणकर पतिव्रत धर्म को निभाने वाली अनन्या हो जाती है।

४- वैष्णव की बुद्धि जड़ और चेतन तत्व की सर्वथा पृथकता का ज्ञान, विष्णु-भक्त के चित्त पटल पर अमिट अंकित करके आत्म शक्ति की सिद्धियों का प्रवाह प्रगट होते हुए भी उसमें भागवत को बहने से बचाती है।

५- वैष्णव की बुद्धि स्वयं सच्चिदानन्द में विलीन होकर भगवद्भक्त को सच्चिदानन्दमय बना देने पर ही कृत-कृत्य होती है।

---०---

३०. वैष्णव की आत्मा

१- वैष्णव की आत्मा परमात्मा का सहज शेषत्व ज्ञान प्राप्त करके ही परम तृप्ति का अनुभव करती है।

२- वैष्णव की आत्मा भगवान के दिव्यातिदिव्य गुणों का अनुभव करके प्रेमातिशायता का परम सुख से आस्वाद लेती है।

३- आत्माराम भगवान जब भक्त की आत्मा में रमण करने लगते हैं, तब वैष्णव की आत्मा आनन्दित होती है।

४- भगवान का असीम सौन्दर्य, सौकुमार्य और माधुर्यादि देह संपत्तियाँ जब वैष्णव को प्रत्यक्ष अनुभव में आती हैं, तब उनकी आत्मा आनन्दमय हो जाती है।

५- सहज दास भूत वैष्णव को जब स्वसम्बन्धानुसार परम पुरुषार्थ स्वरूप भगवत कैंकर्य की प्राप्ति एवं प्रभु के परम स्नेह की प्राप्ति हो जाती है तब आत्मा को स्थाई चरम सुख की उपलब्धि होती है।

३१. वैष्णवीय अभिलाषा

१- वैष्णवों का चित्त चिन्ता शून्य, चित-चोर चतुर चिन्तामणि के चिन्तन में निमग्न रहता है, जिससे जगत का सर्वदा सर्वथा अभाव बना रहता है, अस्तु उसमें भौतिक अभिलाषाओं का स्वप्न में भी उदय न होना स्वाभाविक है। केवल प्रभु प्राप्ति की अभिलाषा अनवरत बनी रहती है।

२- वैष्णव के अन्तराल में अपने इष्ट देव के दर्शन की अभिलाषा एवं प्रेम पूर्ण अकारण कैंकर्य करने की लिप्सा पूर्णतया अबाधित वास किया करती है।

३- वैष्णव अपने लिये स्वयं कुछ नहीं चाहता पर भक्त और भगवान के मंगलानुशासन में सदा संलग्न रहकर उनके ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण की कामना किया करता है।

४- वैष्णव अपने दु:खों की परवाह न कर उसके निवृत्ति के लिये कोई उपाय और कामना नहीं करता, परन्तु जगज्जीवों के कष्ट को न सहता हुआ उनको क्लेश-विमुक्त देखने की इच्छा करता है।

५- सम्पूर्ण कामनाओं से हीन वैष्णव-हृदय में बिना आमंत्रण एवं प्रयत्न के सम्पूर्ण सद्गुण स्वयं आकर अपना निवास स्थल बना लेते हैं और समय-समय पर अपने आप प्रकाशित होते रहते हैं, तब लोग समझते हैं कि इस समय इस वैष्णव के हृदय में यह इच्छा उत्पन्न हो गई है, जैसे किसी रोगी को देखकर किसी वैष्णव के हृदय में दया-गुण के उदय हो जाने पर औषधादि से वह उस दुखी की सेवा करने लगता है अर्थात् दीन-दुखी की सेवा करने की अभिलाषा सी दिखाई देने लगती है, वास्तविक में उसे कोई किसी प्रकार की अभिलाषा ने वरण ही नहीं किया क्योंकि वह अपने को कर्ता, कारयिता, रक्षक और भोक्ता भूलकर भी नहीं मानता। उसे तो अपने प्यारे का पगला प्रेम चाहिये। प्रियतम का कैंकर्य, उन्हीं के सुख के लिये स्वसुख की इच्छा का त्याग कर, करता रहे इसके अतिरिक्त उसे कुछ न चाहिये।

---o---

३२. वैष्णव का त्याग

१- वैष्णव, अपने प्रभु की अप्रियता और प्रतिकूलता उत्पन्न करने वाले व्यवहारों को सर्वथा हेय दृष्टि से देखता है। वह भगवान के अनुकूल आचरण को धर्म, भजन एवं कैंकर्य समझते हुए, प्रतिकूल कर्मों को पाप समझकर परित्याग किये बिना नहीं रहता।

२- प्रथम कोटि के वैष्णव त्यागने योग कर्मों को पाप समझकर त्याग करते हैं, मध्यम कोटि के वैष्णव प्रतिकूल आचरणों से अपने स्वरुप की हानि समझकर सर्वथा उनका परित्याग कर देते हैं। उत्तम कोटि के वैष्णवों में निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान की रुचि ही नहीं उत्पन्न होती।

३- वैष्णव अकृत करण, भगवत अपचार, भागवतापचार और असह्यापचार को कभी मन से भी स्मरण नहीं करते। क्रिया में तो उनका आना सदा असम्भव ही है।

४- वैष्णव स्वयं अपने को भगवान का भोग्य समझता है इसलिये उसमें विषय एवं विषय सेवन की उपकरण सामग्रियों की कामना का त्याग सर्व-देश-काल में बना रहता है।

५- वैष्णवों में स्वसुख की कामना का सर्वथा अभाव रहता है। वे अपने भगवान के सुख को ही अपना सुख समझते हैं, इसलिये उनमें लोक-परलोक (स्वार्थ-परमार्थ) के सुखों की चाह का न होना सहज और स्वाभाविक है। वे दीयमान भुक्ति और मुक्ति के सुखों की तरफ मुख भी नहीं फेरते। उन्हें अपने इष्ट के अविरल प्रेम पूर्ण कैंकर्य के अतिरिक्त और कुछ न चाहिये। वे स्वयं अपने मैं और मेरे का सादर समर्पण भगवच्चरणों में किये रहते हैं।

६- वैष्णव अपने भगवान के प्रेम मे भरकर लोक-वेद के व्यापार का सुचारु रूप से पालन करने में असमर्थ हो जाते हैं, इसलिये वेद के विधि-निषेध उन बावले भक्तों से अपना शासन उठा लेते हैं, अस्तु, भागवतों को सामान्य धर्म का त्याग करना नहीं पड़ता वरन् वे कर्म अपने आप अलग हो जाते हैं।

७- वैष्णव से स्वभावत: जो कर्म संकल्प विहीन आसक्ति रहित होते हैं, उन कर्मों के करने से कर्तापन का सदा अभाव और फलाशा का त्याग सहज सन्निहित रहता है।

८-वैष्णवों की सारी चेष्टायें भगवदर्थ होती हैं, अस्तु उन सम्पूर्ण कर्म की क्रियाओं में स्वसुख के त्याग का होना स्वाभाविक और सरल है।

९- वैष्णव इच्छानिच्छा एवं ग्रहण-त्याग के आग्रह के त्यागी होते हैं। वे अनुकूल के प्राप्ति में हर्ष का और प्रतिकूल के प्राप्ति में विषाद का परित्याग सहज ही किये रहते हैं।

१०- वैष्णव अनन्य प्रयोजन वाले होते हैं अर्थात अन्य प्रयोजन की कामना से उनका हृदय प्रतप्त और कलुषित नहीं होता। एक मात्र उन्हें भगवान एवं उनके प्रेम की तीव्रतम चाह ने वरण किया है।

---o---

३३. वैष्णव का वैराग्य

१- अपने भगवान में अत्यन्त आसक्ति एवं राग ही निश्चय वैष्णव का वैराग्य है, जिससे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष से वह वितृष्ण ही नहीं हो जाता वरन् इनका अस्तित्व ही अपने में नहीं रखता। वह सार्वभौम की सत्ता का स्वामी नहीं बनना चाहता। उसे रसातल की भोग सामग्रियाँ भी नहीं चाहिये। इन्द्र और ब्रह्म पद की प्राप्ति की कामना को सर्वथा हेय समझकर परित्याग कर चुका है वह, योग की सिद्धियों को भी उसने प्रकृति में प्रतिष्ठित जान जवाब दे दिया है। उस परम भागवत को केवल भगवद्धाम में निवास करते हुए प्रेम पूर्ण भगवत कैंकर्य करना ही अभीष्ट रह गया है।

२- भगवान के स्वाभाविक सौंदर्य का अनुभव तथा कृपाप्ति और आचार्यानुमोदित सदाचार का आचरण वैष्णव को परम विरक्त बनाकर ही स्थित रहता है।

३- पंच विषयों का दु:ख-दोषानुदर्शन एवं स्वस्वरूप-परस्वरूप का अप्राप्तिजनक भय, वैष्णव को विषय-वितृष्ण कर परम विरक्त बना देता है।

४- संसारियों एवं संसार को विवर्धन करने वाली वस्तुओं से वैष्णव महा विरक्त होते हुये भगवत अनुरागियों से अत्यन्त अनुरक्त होता है। प्रभु प्रेम को वृद्धिंगत करने वाले जड़ एवं चैतन्य के संगवारि का प्यासा ही बना रहता है।

५- अपने देह-यात्रा के योग क्षेम से वैष्णव विरति तो रखता है किन्तु निकटवर्ती किसी भी प्राणी के अभाव की पूर्ति के लिये वह चेष्टित-सा दिखाई देता है।

---o---

३४. वैष्णव का ज्ञान

१- चिद्-अचिद् और ईश्वर (तत्व त्रय) के ज्ञान वाला वैष्णव होता है।

२- रहस्य त्रयी विद्या का विद्वान वैष्णव, मूल मंत्र, मंत्र द्वय और चरम मंत्र का पूर्णतया ज्ञान रखते हुये उनमें अपना अधिकार रखता है अर्थात् स्वरूपनिष्ठ होता है।

३- वैष्णव अनन्य शेषत्व, अनन्य भोगत्व, और अनन्य शरणत्व संपत्ति से सम्पन्न होता है अर्थात् इन अकार त्रय का ज्ञान भली-भाँति रखते हुये तदरूप होता है।

४- वैष्णव, अष्टाक्षर शरणागति मंत्र का यथात्म ज्ञानी बनकर प्रभु कृपा को ही इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति का हेतु समझता है।

५- सम्पूर्ण भागवत धर्मों का ज्ञान वैष्णव का ज्ञान है। भागवतीय धर्म के अतिरिक्त उसके लिये सब अज्ञान है।

६- वैष्णव अर्थ-पंचक तत्वज्ञ होकर स्वस्वरूप निष्ठ होता है।

---o---

३५. वैष्णव की भक्ति

१- ऋषि-मुनि-देव-दुर्लभा वैष्णव की भक्ति उपायतया न होकर अपने भगवान के विषय में प्रेम स्वरूपा एवं अकार त्रय सम्पन्ना, अनन्यता लिये हुये अमृतमयी होती है।

२- वैष्णव की श्रवणादि नवधा साधन भक्ति भी साध्य का स्वरूप धारण कर लेती है अर्थात् प्रेमातिशयता से प्रभु-चरित्र श्रवण किये बिना एवं चन्द्रकीर्ति की चरित चन्द्रिका का रसास्वाद लिये बिना भक्त के कर्ण और मुख अतृप्त ही बने रहते हैं, वह लीला रस का रसिक इस प्रकार हो

जाता है, जैसे जल का मत्स्य, अस्तु वैष्णव की भक्ति भगवान के गुण-गणानुभव के रसानुभव के लिये होती है।

३- वैष्णव की भक्ति अपने भगवान का भजन करते-करते भक्त को भगवत अपनत्व की पराकाष्ठा में पहुँचाकर स्वयं रागानुगा नाम से सम्बोधित होने लगती है।

४- वैष्णव की भक्ति अत्यन्तासक्ति द्वारा चरमावस्था को प्राप्त कर पराभक्ति के नाम से पुकारी जाने लगती है जहाँ भक्ति, भक्त और भगवान की त्रिपुटिका का भंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में कान्तादि रसों का भान भी जाता रहता है।

५- वैष्णव की भक्ति स्वतंत्रतया अलग से कर्म-ज्ञान और योगादि अनुष्ठानों की अपेक्षा नहीं रखती किन्तु कर्म-ज्ञान और योग अपने फलों सहित अपने स्वरूप की साफल्यता समझते हुए भक्ति-देवी के दासता की लालसा से सराबोर होकर सदा अनुगमन किया करते हैं। जिस भक्ति को पाकर भक्त कृतकृत्य होकर तृप्त और अमृतमय हो जाता है।

६- वैष्णव की भक्ति भगवदनुकूलता तथा तद् विरोधी वर्ग में उदासीनता ग्रहण किये हुए अहंकार-ममकार शून्य होती है।

७- वैष्णव की भक्ति उपायोपेयाकार वाली होती है अर्थात् वैष्णव, भगवान की भक्ति, भक्ति विवर्धन के लिये ही करता है।

८- वैष्णव की भक्ति भगवत विस्मरण को न सहती हुई परम व्याकुलता को धारण करने वाली होती है। इसमें सर्वात्म समर्पण "तत् सुख सुखित्वम्" की भावना और अपने प्रभु के माहात्म्य का ज्ञान सहज ही सर्वभावेन संनिहित रहता है।

९- वैष्णव की भक्ति भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम का सदा सेवन करने वाली और प्रभु कैंकर्य को ही परम पुरुषार्थ समझने वाली होती है।

---०---

३६. वैष्णव का अनुराग

१- वैष्णव का अनुराग अहैतुक और अहर्निशि अनुराग विवर्धन के लिये ही होता है।

२- वैष्णव का अनुराग सर्वभावेन आत्म समर्पण कर देने में ही अपनी उपयोगिता का अनुसंधान करके कृतकृत्य होता है।

३- वैष्णव का अनुराग अपने इष्ट देव के आनन्दमय मुखोल्लास का अवलोकन कर प्रतिक्षण वृद्धिंगत होता रहता है।

४- वैष्णव का अनुराग अपने प्रभु के किंचित विस्मरण को न सहता हुआ विरह-वेदना के रूप में परिणित हो जाता है।

५- वैष्णव का अनुराग उत्तरोत्तर प्रेम की उच्च स्थितियों को पार करता हुआ प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम की त्रिपुटी को भंग करके पराभक्ति एवं परमानन्द के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

---०---

३७. वैष्णव में रसोपासना

१- ब्रह्म ही रस और रस ही ब्रह्म है। रस की प्राप्ति ही परमानन्द की प्राप्ति है, अस्तु वैष्णव पूर्ण रूपेण रस का परिज्ञान रखते हुये परम रसिक बने रहते हैं क्योंकि भक्ति का पर्यवसान रसमय बन जाने में ही है।

२- रागात्मिका-भक्ति ही रसात्मिका है। वैष्णव प्रभु प्रेमाधिक्य के कारण भगवान की सौन्दर्यता और माधुर्यता में जब प्रवेश करते हैं तब ऐश्वर्यता का भान भली-भांति भग जाने के कारण श्रृंगारादि रसों का भाव-भानु उनके हृदय में उदय हो जाता है। अस्तु, वैष्णव परम रसिक बन जाते हैं। जैसे :- दण्डकारण्य के महर्षिगण।

३- बिना अपनत्व के प्रेम की चरम स्थिति का दर्शन कोई भी नहीं कर सकता, इसलिये वैष्णव प्रेमापरा भक्ति के प्राप्त्यर्थ भगवान को अपना पुत्र, स्वामी, सखा, भर्ता इत्यादि मानकर रसोपासना करने लगते हैं।

४- जीव का ईश्वर के साथ नव प्रकार का निरागन्तुक सहज सम्बन्ध है जो स्वस्वरूप और परस्वरूप के अनुकूल है। इस प्रकार के दृढ ज्ञान से संयुक्त वैष्णव, रसोपासना पद्धति को स्वरूपतया अपना लेते हैं।

५- हृदय-प्रधान वैष्णवों को स्वयं प्रभु रस-पद्धति से मिलने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, इसलिये वे अपने उस भक्त की उरस्थली में उसी सम्बन्ध का स्फुरण उत्पन्न करते हैं, जिस सम्बन्ध-रस का उन्हें आस्वाद लेना होता है, अस्तु वे वैष्णव रुच्यानुकूल रस-पाक-प्रक्रिया से अपने भगवान का भोग्य बन जाना ही परम पुरुषार्थ समझते हैं।

नोट :- रसोपासना की सिद्धि स्थिति में परमानन्द की अनुभूति, अखण्डैक ज्ञान, रसोवैस: का अनुवर्तन, तत्सुख सुखित्वम् की स्थिति, तदीयता, नव-नव रस वार्धक्यता और प्रेम की उत्कर्षता स्वाभाविक नित्य विद्यमान रहती है।

---o---

३८. वैष्णव की अनन्यता

१- विष्णु पद वाच्य एक परब्रह्म सब ओर से व्याप्त हो रहा है, व्याप्य भी वही व्यापक भी वही, उससे अतिरिक्त किंचित भी अन्य वस्तु के भाव का अभाव ही त्रिभुवन में प्रतिष्ठित है। अर्थात सारे के सारे संसार को भगवत स्वरूप समझना वैष्णव की अनन्यता है।

२- देवतान्तरों के शेषत्व एवं साधनान्तरों के आश्रय का परित्याग (अर्थात् भगवान के आश्रय को ग्रहण कर अन्य आश्रय का न्यास) वैष्णव की अनन्यता है।

३- वैष्णव की अनन्यता में, अपने भगवान में प्रीति-प्रतीत और सुरीति के साथ भक्ति-भावना तो वृद्धिंगत होती जाती है, किन्तु अन्य देवों और साधनों से द्वेष नाम मात्र नहीं होता। पतिव्रत धर्म परायणा पत्नी की भाँति वैष्णव की अनन्यता है।

४- सर्वशेषी, सर्वभोक्ता और सर्वरक्षक अपने भगवान को समझना जो सर्व श्रुति शास्त्र संमत और सद्गुरु-संतानुमोदित है, वैष्णव की अनन्यता है।

५- भगवान की अहैतुक कृपा को ही उपायोपेय समझकर अहर्निशि प्रभु कृपा की बाट जोहते हुए अकिंचनत्व, अन्यागतित्व और आर्तित्व वृत्ति से कालक्षेप करना ही वैष्णव की अनन्यता है।

---o---

३९. वैष्णव का अभिमान

वैष्णव मदीयत्व तथा तदीयत्व भाव से भावित होकर भावना करता है कि मैं भगवान का सहज शेष भूत दास एवं भोग्य हूँ। वे मेरे सहज शेषी, स्वामी और भोक्ता हैं, ऐसा दृढ निश्चय के साथ तदनुसार वृत्ति वाला होना वैष्णव का अभिमान है।

---o---

४०. वैष्णव में सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहं का अभाव

१- वैष्णव में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व अहंकार का अत्यन्ताभाव होता है।

२- वैष्णव में देहाभिमान का (अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि का, देह सम्बन्धी वस्तुओं में ममत्व बुद्धि का और शरीरान्तर में दिव्य-देहोपलब्धि की इच्छा का) सर्वथा अभाव होता है।

३- वैष्णव में स्वस्वरूपाभिमान नहीं होता (अर्थात् देह-दृष्टि रहने पर आत्मा को अनादर भाव से नहीं दर्शन करता और न आत्म-दर्शन में शरीर से घृणा करता) वह जड़-चेतन समुदाय को भगवान का शरीर समझता है, अपने स्वरूप को भगवत स्वरूप के भीतर ही दर्शन करता है, अपना अलग अस्तित्व नहीं मानता।

४- वैष्णव उपायाहंकार बिना ही कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति और प्रपत्ति का अनुष्ठान किया करता है। उपर्युक्त साधनों में उसकी उपाय बुद्धि नहीं होती। इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति में वह भगवान कृपा को ही उपाय मानता है अर्थात् प्रभु स्वयं उपायोपेय हैं, यह उसका यथात्म दृढ़ निश्चय होता है।

५- वैष्णवों में उपेयाहंकार का सर्वथा अभाव होता है। "मैं भगवत कैंकर्य परायण हूँ" का अहं अपने में नहीं प्रवेश करने देते। जिस प्रकार अंग अंगी के सुख के लिये, अंगी के रुख को पहचान कर अंग सेवा करते हैं, बिना अभिमान के। (जैसे हाथ बिना अहं के सिर को खुजला देता है।) उसी प्रकार वैष्णव जन निरभिमान प्रभु कैंकर्य किया करते हैं।

६- वैष्णव में अहं के न होने का भी अहंकार नहीं होता।

---०---

४१. वैष्णव में राग-द्वेष का अभाव

१- वैष्णव की दृष्टि में जब कोई अपना और पराया ही नहीं तो वह राग-द्वेष किससे करे। अस्तु वैष्णव राग-द्वेष विहीन होता है।

२- जब वैष्णव को घट-घट में बैठे हुये उसके प्रभु ही दृष्टिगोचर होते हैं, तो वह द्वेष किससे करे। अस्तु वैष्णव द्वेष रहित होता है।

३- वैष्णव को जब किसी प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति से प्रतिकूलता आभासित होती है तो वह उसकी प्रतिकूलता में अपने पाप के परिणाम को एवं अपनी परिस्थिति सुधारने के लिये प्रभु प्रेरणा को हेतु समझता है, अस्तु किसी प्राणी पदार्थ और परिस्थिति से द्वेष नहीं करता।

४- वैष्णव किसी से द्वेष करना परमात्मा से ही द्वेष करना समझता है क्योंकि सर्वभूतों में अन्तर्यामी रूप से भगवान ही प्रतिष्ठित हैं, ऐसा उनका दृढ़ ज्ञान है। प्रतिकूल व्यवहार करने वाले प्राणी को भवरोगी समझकर उल्टे उसके कल्याण की कामना करने लगता है।

५- वैष्णव, जगत के परिवर्तनशील असत् अविद्यामय स्वरूप को समझकर उससे उदासीन रहता है, अस्तु वह राग-द्वेष विहीन होता है।

६- वैष्णव राग और द्वेष को बन्धन समझकर उससे सर्वत्र और सदा पृथक रहता है।

७- वैष्णव के हृदय में जब अहंकार का अभाव हो गया, और ममता की मृत्यु हो गई, तो बिना जननी-जनक के राग-द्वेष का प्रसव कहाँ से हो।

---o---

४२. वैष्णव की ममता

१- भगवान हमारे हैं, भगवान का सुख हमारा सुख है, भगवान की वस्तु हमारी वस्तु है, किन्तु है उन हमारे प्रभु के भोग के लिये, यही वैष्णव की ममता है।

२- श्री हरि के अनन्तानन्त सौन्दर्य, सौशील्य, सौलभ्य और वात्सल्यादि दिव्य गुण-गणो के सहित उनका परत्व हमारे अनुभव के लिये है, यही विष्णु भक्तों का ममत्व है।

---o---

४३. वैष्णव में ममत्व बुद्धि का सर्वथा अभाव

१- वैष्णव में जब अहंकार को आश्रय ही अप्राप्य रहा तो ममकार कहाँ से उद्भूत हो क्योंकि कारण के बिना कार्य अदृश्य ही रहता है।

२- वैष्णव "ममेति मृत्यु:" समझकर ममत्व से जब मन को पृथक

कर लिया तब ममता अपने आप अपना आश्रय न पाकर वैष्णव के चित्त से चली गई, 'अस्तु' वह निर्मम बन जाता है।

३- जब वैष्णव ने अपनी आत्मा और आत्म-सम्बन्धी लौकिक-परालौकिक वस्तुओं को अपने भगवान के लिये सर्वभावेन समर्पण कर दिया तो ममत्व होने की शंका का समावेश ही नहीं होता।

४- जब वैष्णव को यह अडिग और अपरिहार बोध हो जाता है, कि यह सारा का सारा संसार मैं और मेरे के समेत वैष्णवीय है, तो ममता के लिये अवकाश ही कहाँ।

५- जब वैष्णव अपने भगवान के अतिरिक्त जग-त्रय में किंचित वस्तु का दर्शन ही नहीं करता तो ममता कहाँ से प्रादुर्भूत हो अस्तु वैष्णव सहज ही निर्मम होते हैं।

---o---

४४. वैष्णव में नैच्यानुसंधान

१- वैष्णव अपने को तृण से भी नीच समझता है, क्योंकि उसके भगवान का स्वरूप चराचर संसार है और वह सहज ही अपने स्वामी का सेवक है।

२- वैष्णव अपने इष्ट के अप्राप्ति में अपने अनंत जन्मों के अर्जित अपराधों को ही कारण समझता है अर्थात् प्रभु प्राप्ति में पाप ही प्रतिबंधक है ऐसी उसकी मान्यता हो जाती है, अस्तु, अपने पापों का अनुसंधान कर-करके वह अपने को नीचातिनीच समझने लगता है।

३- वैष्णव की सहज दैन्यता, नम्रता और विनयशीलता नैच्यानुसंधान के अनुरूप वैष्णव जीवन का निर्माण करती है।

४- वैष्णव की दृष्टि अपने से सबको श्रेष्ठ और प्रभु कृपाका अधिकारी समझने लगती है अतएव भक्त में नैच्य भाव का आना स्वाभाविक है।

५- वैष्णव में अकिंचनत्व, आर्तित्व और अनन्यगतित्व की दशायें उत्पन्न होकर सहज ही वैष्णव को नैच्यानुसंधान में संलग्न कर देती है, अस्तु, वह अपने को अत्यन्त नीच समझने लगता है।

४५. वैष्णव में अमानित्व भाव

१- वैष्णव जड़-चेतनात्मक जगत में सर्वत्र अपने इष्ट का दर्शन करते हुये अपने अहं को सर्वभावेन खो बैठते हैं। उन्हें मान ग्रहण करने की इच्छा कैसे वरण कर सकती है, अहं के बिना ग्रहण भी कौन करे।

२- वैष्णव मान को सुरापान, प्रतिष्ठा को सूकरी विष्ठा और गौरव को रौरव नरक के समान दु:खप्रद समझकर सर्वथा परित्याग कर देते हैं।

३- वैष्णव जन, जब सचराचर जगत का सेवक स्वयं को समझ लिये, तो वे किससे मान पाने की इच्छा करें। उन्हें तो सबको मान देना ही रुचिकर होता है।

४- वैष्णव स्वरूप निष्ठ द्वन्द्वातीत होते हैं। जब उन्हें कोई कामना ही नहीं तो तुच्छ क्षणिक मान-सुख की इच्छा ही वे क्यों कर करें।

५- देहाभिमान से निवृत्ति हो जाने पर एवं आत्म स्वरूप को प्रभु से पृथक अस्तित्व न पाकर, वैष्णवों में अमानित्व का विकास होना सहज है।

६- यदि वैष्णवों को कहीं प्रतिष्ठा की प्राप्ति देखी जाती है तो वह उनकी इच्छा से नहीं, प्रत्युत उनके प्रभु की दी हुई प्रसादी होती है, उसे भी वैष्णव अपने इष्ट को अर्पण करके स्वआदर को भगवान का आदर समझ अनासक्त होकर उससे अलग ही रहते हैं।

---०---

४६. वैष्णव में मान प्रदातृत्व भावना

१- वैष्णव घट-घट में अपने परम प्रभु का दर्शन करता है, अस्तु सभी को मान प्रदान करना उसके स्वभाव में उतर आता है।

२- वैष्णव जब अपने को तृण से भी नीच समझने लगता है, तो सबको सम्मानित करना उसका सहज स्वभाव बन जाता है।

३- वैष्णव सभी भूतों में प्रतिष्ठित भगवान की पूजा करने के लिए सम्मान को ही आगे रखता है।

४- सबको सम्मान देकर ही वैष्णव अपने अहं के खोने में अग्रसर होता है।

५- सबकी (जनता जनार्दन) प्रसन्नता एवं कृपा प्राप्त करने के लिये, वैष्णव सबको सम्मान समर्पण करने को ही, हेतु समझता है।

६- वैष्णव दूसरों को सम्मान न देना अपचार समझता है।

७- विष्णु की अनुकूलता सबको सम्मान देने से होगी निर्भ्रान्ति, वैष्णव का दर्शन है।

---o---

४७. वैष्णव में क्षमा

१- वैष्णव अपराध करने पर भी अपराधी को प्रतिकूलता प्रदान करने वाला व्यक्ति विशेष नहीं मानता वरन् अपने पाप कर्मों के परिणाम को कारण रूप में स्वीकार करता है, अस्तु उसके प्रति वैष्णव के हृदय में क्रोध की भावना ही नहीं उत्पन्न होती क्योंकि सहज क्षमा से वह ओत-प्रोत रहता है।

२- वैष्णव इष्ट-अनिष्ट के प्राप्ति में सदा सर्वदा सम रहता है इसलिये हर्ष और विषाद से ग्रस्त न होकर प्रतिकूल व्यवहार करने वाले को अपनी क्षमा शीलता का ही परिचय देता है।

३- वैष्णव किसी प्राणी को कर्ता कारयिता नहीं स्वीकार करता। वह किसी अदृश्य को ही प्रतिकूलता का प्रदाता समझता है। इसलिये क्षमा युक्त होना उसका सहज स्वभाव होता है।

४- बुद्धिमान् वैष्णव, जीव समुदाय में अपने समेत किसी को बिना अपराध के नहीं देखता, अस्तु, संत-स्वभाव से क्षमावान होना ही वैष्णव का सौन्दर्य है।

५- वैष्णव किसी में दोष का दर्शन ही नहीं करता वरन् पर दोष-दर्शन में अपने दोष को ही कारण मानता है, अस्तु, क्षमायुक्त होना उसका सहज स्वरूप है।

६- वैष्णव को भगवान की कृपा से क्षमा-गुण-प्रसाद जब मिल जाता है, तो उसमें क्षमा का निवास होना स्वाभाविक है।

७- वैष्णव जब परमार्थ में स्थित हो जाता है, तब सभी प्रकृति के कार्यों को मोह-मूल समझकर परित्याग कर देता है, फिर उसे संसार का

दर्शन सदा के लिये अलभ्य हो जाता है, अस्तु क्षमादि गुण सहज ही में अपना आगार बनाकर भक्त के हृदय में बसने लगते हैं।

---o---

४८. वैष्णव में दया

१- वैष्णव दयानिधान भगवान का भक्त होता है, अस्तु इष्ट के दयादि-गुण-गणों का दर्शन श्री हरि-भक्तों के हृदय में होना उनके अनुरूप ही है।

२- वैष्णव का हृदय किसी के भी दुख को देखकर द्रवीभूत हो जाता है, क्योंकि आत्मवत सर्व भूतों को मानने के स्वभाव वाला होने से उसे दया वरण किये रहती है।

३- वैष्णव सम्पूर्ण प्राणिवर्ग के कल्याण की कामना रखता हुआ सभी का मंगलानुशासन करता है, अस्तु, अपने इच्छा के प्रतिकूल किसी के कष्ट को देखकर दया से भर जाना उसका सहज स्वभाव होता है।

४- वैष्णव का विग्रह धर्ममय होता है, दया सभी धर्मों में श्रेष्ठ है, अस्तु, दु:खी को देख दया से भर जाना वैष्णव का सहज धर्म होता है।

५- वैष्णव दया की साकार मूर्ति होता है, अस्तु, दूसरे के कष्ट सहने की क्षमता उसमें नहीं होती।

---o---

४९. वैष्णव में करुणा

१- वैष्णव के अन्त:करण में करुणा सिन्धु की करुणा जीव मात्र के कल्याण के लिये अपना आवास बना लेती है। अस्तु, भक्त के स्वभाव में करुणा का अवतरण हो जाता है।

२- करुणा रसाविष्ट वैष्णव कीट पतंग के कष्ट को न सहता हुआ मुर्छाभाव को प्राप्त हो जाता है।

३- वैष्णव का हृदय मोम की तरह कोमल होने से दूसरे के दु:ख दावाग्नि की आँच से तुरन्त पिघल कर करुणामय हो जाता है।

४- जीवों की दयनीय दशा को देखकर आत्मवत सर्वभूतों को

देखने वाला वैष्णव अपने ही ऊपर उस आघात को आया हुआ समझकर करुणा से परिपूर्ण हो जाता है।

५- वैष्णव के हृदय में हार्दानुग्रह का कोष परिपूर्ण होता है। अस्तु, वह हृदय-धनी-भक्त करुणा पूर्ण होकर सभी को दर्शन देता है।

---o---

५०. वैष्णव में अहैतुकी कृपा

१- करुणा से ओत-प्रोत वैष्णव किसी भी जीव के कष्ट को देखकर अपनी अहैतुकी कृपा से उसके दु:ख-दोष निवारणार्थ प्रयत्न करने लगता है।

२- वैष्णव आप्तकाम निर्पेक्ष और शान्त-दान्त होता है। उसे अपने लिये कुछ न चाहिये, अस्तु उसकी कृपा का अहैतुक होना स्वाभाविक है, जो उसके नवनीत-कोमल-चित्त से उद्‌भूत होती है।

३- वैष्णव का सम्पूर्ण योगक्षेम भगवान करते हैं, जिससे वह सदा निश्चिन्त रहता है, अस्तु अपनी सहज कृपा परवश होकर किसी के साथ यत्किञ्चित उपकार करता है, वह अकारण ही करता है।

४- कृपासिन्धु करुणा-वरुणालय भगवान की कृपा अहैतुक होती है इसलिये उनके शेष भूत दासों में अहैतुक कृपा का होना स्वरूपानुकूल ही है।

५- वैष्णव अपने को भगवान का सहज सेवक समझता है, इसलिये सम्पूर्ण प्राणियों में प्रतिष्ठित प्रभु की जो भी सेवा उसके स्वभावानुसार बनती है, वह निर्हेतुक ही होती है क्योंकि कैंकर्य करना ही उसका परम पुरुषार्थ है।

---o---

५१. वैष्णव में विश्व-बन्धुता

१- विष्णुमय जगत से वैष्णव के हृदय में मैत्रिभाव होना स्वाभाविक है, क्योंकि वह प्रत्येक भूतों में अपने परम और सहज सुहृद भगवान का ही दर्शन करता है।

२- आत्मवत सर्वभूतों में प्रतिष्ठित अपनी ही आत्मा का और अपने में सर्वभूतों का जो दर्शन करता है, उस वैष्णव के हृदय में सबके प्रति सुहृदता के भाव निसन्देह उत्पन्न हो जाते हैं।

३- विष्णु से जायमान जगत सब का सब वैष्णव है, इसलिये सभी वैष्णव अपने बन्धु हैं, इस प्रकार के भाव से भावित वैष्णव सभी को अपना सहोदर सुहृद समझता है।

४- सम्पूर्ण संसार विष्णु का शरीर है, अस्तु भगवत-भक्त, भगवान के श्री अंगों से सहज ही स्नेह करते हैं।

५- बोध स्वरूप वैष्णव सहज ही सबके प्रिय और सबके हितकारी होते हैं, इसलिये सर्वभूतों के साथ सुहृदता का बर्ताव करते हैं।

---o---

५२. वैष्णव में मुदिता

१- वैष्णव प्रत्येक परिस्थिति को प्रभु का कृपा-प्रसाद समझता है, जो अपने कल्याण के लिये ही उपस्थित हुई है, अस्तु उसके मुखोल्लास में न्यूनता नहीं आती।

२- वैष्णव सुख-दु:खादि द्वन्द्वों का प्रकृति के (देह के) विकार समझता है आत्मा के नहीं, इसलिए स्वरूपज्ञ वैष्णव सर्वदा स्वरूप में स्थित प्रसन्न चित्त बना रहता है।

३- वैष्णव का जब अहंकार और ममकार ही गल गया तो राग द्वेष कहाँ से प्रादुर्भूत हों और द्वेषादि के बिना दु:ख के उद्‌गम स्थली का निर्माण कार्य कहाँ बने, अस्तु वैष्णव सदा प्रसन्न मुद्रा में सबको अपना दर्शन देता है।

४- वैष्णव को जब शेषत्व का वैशद्य ज्ञान अच्छी प्रकार से हो जाता है, तब वह अपने सुख-दु:ख की चिन्ता को छोड़कर प्रभु सुख में सर्वकाल सुखी बना रहता है।

५- वैष्णव जब अपने आत्म देव को आत्म समर्पण ही कर दिया तो उसे लोक और परलोक के हानि से क्या चिन्ता, अस्तु बिना चिन्ता के अभाव में उसका मुखाम्भोज सदा विकसित बना रहता है।

---o---

५३. वैष्णव में उदासीनता

१- वैष्णव मन से स्थावर-जंगम-जगत के सभी प्राणियों को प्रणिपात-प्रणाम करते हुये सभी के कल्याण की कामना करते हैं, परन्तु संसृति को प्रदान करने वाले संसारियों के संग से सदा उदासीन ही बने रहते हैं।

२- वैष्णव सुत-दारादि कुटुम्बियों को संसार की वृद्धि करने वाले आगन्तुक स्वार्थ-परायण सम्बन्धी समझकर उनके बीच में रहते हुये उसी प्रकार उदासीन और अलिप्त बने रहते हैं, जैसे जल में रहते हुये जलज।

३- वैष्णव बड़ी से बड़ी विभूति पाकर भी उससे उदासीन रहते हैं क्योंकि वे सम्पत्ति को विपत्ति और नश्वर समझने वाले होते हैं।

४- वैष्णव अपने देह-गेह से भी सदा उदासीन बने रहते हैं क्योंकि इनकी आसक्ति को वे भगवत प्राप्ति की बाधिका समझते हैं।

५- वैष्णव अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष से भी सर्वदा उदासीन रहते हैं क्योंकि उनकी मान्यता में उक्त पदार्थ भगवत प्राप्ति तथा उनके अनुराग पूर्ण कैंकर्य के प्राप्ति के विरोधी हैं।

---o---

५४. वैष्णव में तितिक्षा

१- वैष्णव बृहदात्-बृहद् विपत्तियों के प्राप्ति में धैर्य को नहीं खोते क्योंकि उनके ज्ञान में आये हुये सभी दु:ख प्रभु-प्रसाद होते हैं और उनको प्रसन्नता पूर्ण भोगने में ही अपना कल्याण है, ऐसा उनका दृढ़ निश्चय है।

२. वैष्णव दु:खादि द्वन्द्वों को केवल देह ही में दर्शन करता है, आत्मा में नहीं, अस्तु शरीर के दु:खी होने पर वह दु:खी नहीं होता क्योंकि वह स्वरूपज्ञ है। अन्तर्मुखी वृत्ति से आत्मा में ही स्थित रहता है।

३- वैष्णवों में वृक्ष से भी बढ़कर सहिष्णुता होती है। वह किसी के भी किये हुये अपराध को एवं आकस्मिक आये हुये त्रितापों को अपने पाप का परिणाम समझकर सह लेता है।

४- वैष्णव घोर से घोर आपत्ति और कठिनाइयों के आने पर भी उसी प्रकार तितिक्षु बना रहता है जिस प्रकार काली अंधेरी रात को देखकर विश्व धैर्य को धारण किये रहता है।

५- वैष्णव जब स्वकीय स्वत्व को सर्वभावेन अपने प्रभु को अर्पण कर दिये तो लोक-हानि की चिन्ता उन्हें क्यों कर हो। वे महान से महान आपत्ति के सहने में सक्षम होते हैं, क्योंकि अहंकार और ममकार उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते।

---o---

५५. वैष्णव में एकता

१- वैष्णव जब चराचर जीवों और उनके शरीरों को (जीव और प्रकृति को) अपने भगवान का शरीर समझता हुआ प्रभु को सर्व शरीरी जानता है तो एकता का दर्शन होना उसके लिये स्वाभाविक है।

२- वैष्णव जब जीव समुदाय एवं अष्टधा प्रकृति को प्रभु के स्वरूप के भीतर ही देखता है, भिन्नता का भान ही भुला दिया तो एकता ही एकता का दर्शन होना उसके अनुकूल है।

३- वैष्णव को प्रेम की अतिशयता से जब श्याम सुन्दर की सलोनी सूरत अणु-अणु में नजर आने लगी तब अन्य वस्तु (जीव और प्रकृति) का अस्तित्व ही न रहा अस्तु एकता का दर्शन होना उसके लिये सहज और स्वरूपानुकूल है।

४- वैष्णव को जब यह भली-भाँति ज्ञात हो गया कि यह विश्व, विष्णु (व्यापक ब्रह्म) से जायमान है, उसी में प्रतिष्ठित है, उसी से जी रहा है और अन्त में उसी में विलीन हो जायगा तो वैष्णव के हृदय में एकता का होना स्वाभाविक है।

५- जिस प्रकार विचार करने पर कार्यभूत घट में कारण भूत मृत्तिका की मृत्तिका दीख पड़ती है, पट में सूत्र ही सूत्र नजर आता है, उसी प्रकार वैष्णव को विवेकतया यह संसार विष्णुमय प्रतीत होने लगता है, अस्तु उसके लिए एकता का दर्शन होना सहज है।

५६. वैष्णव में समता

१- वैष्णव के अन्तरालय में जब एकता की प्रतिष्ठा हो गई तो समता स्वयं बिना साधन के भक्त-हृदय में उसी प्रकार आ जाती है, जिस प्रकार मिश्री के ढेले में हर ओर से मीठेपन का ज्ञान। समता के दर्शन से वैष्णव सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जय-पराजय और निन्दा-स्तुति इत्यादि द्वन्द्वों में सम बना रहता है, जिससे उसके अन्त:करण का स्पर्श द्वन्द्वजनित हर्ष और विषाद नहीं कर पाते।

२- जब एक ही परमात्मा का दर्शन अखण्ड रूप से अखिल विश्व के चराचर प्राणियों में वैष्णव को होने लगता है तो समता के शुभागमन में संदेह नहीं रहता।

३- पंच भूतों से सभी ऊंच-नीच देहों का निर्माण होता है तथा चेतन तत्व सम्पूर्ण शरीरों में समान रूप से संप्रविष्ट होकर सभी भूतों को चेतनान्वित करता है। इस प्रकार ज्ञान के उदय हो जाने पर समता स्वयं वैष्णव के हृदय देश में संप्रकाशित होने लगती है।

४- वैष्णव के मन से भेद-बुद्धि के दूर होने पर, अभेद बुद्धि के प्रतिष्ठित होने से समता का विकास सहज ही होने लगता है।

५- वैष्णव के हृदय में जब अस्मिता ही न रही तो असमता का दर्शन कौन करे फिर तो समता का ही साम्राज्य शेष रह जाता है।

नोट :- समदर्शी होने पर भी प्रत्येक जीव के साथ, प्रत्येक परिस्थिति में समवर्तीपना असम्भव और अशक्य है जैसे अंगी किसी अंग के रोगी होने पर कष्ट का अनुभव करता हुआ औषधादि उपचारों से स्वस्थता प्राप्त करने की चेष्टा करता है किन्तु हर अंगों से एक ही बर्ताव करने में अपने को असमर्थ पाता है।

----o----

५७. वैष्णव में शम-दमादि गुण

१- वैष्णव जब अपने मन एवं इन्द्रियों को भगवत चरणारविन्दों में समर्पण कर देता है तो वे हृषीकेश अपने आश्रित अनुयायी भक्त को शम-दमादि गुण-गण प्रदान कर देते हैं। जिससे शनै: शनै: वैष्णव अपने मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

२- यथा गारुड़ी मंत्र के पढ़ने से सर्प-विष सहज ही उतर जाता है, उसी प्रकार अव्यावृत भजन एवं भगवत की भगवती भास्वती कृपा से शरणागत चेतन के मन में विषय-लिप्सा दूर भग जाती है, अस्तु, वैष्णव के हृदय में शम-दमादि सम्पत्ति का सन्निवास सरलता से हो जाता है।

३- वैष्णव जब प्रकृति के पार अपनी आत्मा का दर्शन कर लेता है तब मन का निग्रह और इन्द्रिय-निग्रह उसके स्वाभाविक गुण बन जाते हैं क्योंकि उसका मन प्रकृति में स्थित नहीं रहता।

४- वैष्णव के हृदय में ग्रहण-त्याग तथा इच्छाऽनिच्छा का आग्रह ही नहीं रहता तो शम और दम का होना उसके अनुकूल ही है।

५- वैष्णवों की उरस्थली जब उनके भगवान की विहार-स्थली ही बन गई तो उस हृदय को द्वन्द्वातीत एवं शमदमादि गुणों से युक्त होना सहज हो जाता है।

---o---

५८. वैष्णव में शान्ति

१- वैष्णव के चित्त की चंचलता के अभाव से मन में ग्रहण-त्याग और इच्छाऽनिच्छा का आग्रह न रहने पर उसके हृदय-प्रांगण में अशेष-शान्ति सुन्दरी की ही केलि अनवरत हुआ करती है।

२- सद्गुरु एवं संतों का सेवन करते-करते आचार्य प्रसाद से वैष्णव के हृदय-स्थल में सहज ही शान्ति-सरिता का संप्रवाह अपने में अपने से अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को आत्मसात कर लेता है।

३- वैष्णव, शान्ति के सागर, सुख-स्वरूप अपने भगवान के पाद-पद्मों को त्याग कर स्वप्न में भी अन्यत्र जाने की कामना नहीं करता, इसलिये वह शान्ति के सुख-सिन्धु में सदा निमग्न रहता है।

४- वैष्णवों में अविद्यादि पंच-क्लेशों की तनुता का दर्शन होते ही शान्ति-सुधा का सरोवर उसे सराबोर किये रहता है।

५- वैष्णव त्याग की मूर्ति होता है, इसलिए शान्ति ही शान्ति उसे चारों ओर से आवृत्त किये रहती है।

---o---

५९. वैष्णव में शीलता

१- अहंता-ममता रहित नैच्यानुसंधान से संयुक्त एवं घट-घट में विष्णु भगवान का दर्शन करने वाले वैष्णव का हृदय सहज ही शील से सम्पन्न हो जाता है। उसकी प्रत्येक चेष्टा तथा प्रत्येक गुण, शील से संशोधित रहते हैं।

२- शील, वैष्णव के लिए भगवान की एक उत्तम देन है, जिससे शील से सराबोर भक्त का हृदय अतुलित आभा का आन्दोलान्विताम्भोधि बना रहता है।

३- स्वरूप स्थित वैष्णव के उरालय में स्वरूपानुरूप शील सहज ही स्वयं आकर सदा के लिए बस जाता है, इसलिये उसका शीलवान बन जाना स्वाभाविक है।

४- शील सिन्धु भगवान जब भक्त के अन्त:करण में निवास करने लगते हैं तब उस वैष्णव के हृदय में शील की सरिता बहने लगना स्वामी-सेवक के अनुकूल है।

५- शील संतों का अलंकार एवं आत्मा का सरस प्रकाश है वस्तुत: सन्त स्वभाव से संयुक्त वैष्णव में शील का संप्रदर्शन सहज सरल और उसके आत्मानुरूप है।

---०---

६०. वैष्णव में सरलता

१- शील सम्पन्न वैष्णव सभी दृष्टियों से सरल होता है। उसकी रहनी, कहनी और करनी तथा मिलनी सरलता से ओत-प्रोत होती है, क्योंकि उसमें बनावट, दंभ और पाखण्ड का अत्यन्ताभाव होता है।

२- वैष्णव अपने सरल स्वभाव से सबका प्रिय होता है। पशु-पक्षी भी उसके मित्र बन जाते हैं।

३- अमानी और अपेक्षा रहित वैष्णव सबको सरलता से सुलभ रहता है।

४- मन से सबकी पूजा करने वाले वैष्णव का सरलता से सुशोभित होना स्वाभाविक है।

५- सरलता वैष्णव की सहिदानी है। वह इस गुण से कभी अलग होते नहीं देखा जाता।

---o---

६१. वैष्णव में कोमलता

१- वैष्णव का हृदय कोमलता की कमनीय कान्ति से दैदीप्यमान रहता है, क्योंकि उसमें आर्द्रतोत्पादक कृपा, करुणा, क्षमा, दया और शीलादि दिव्य गुण अपना आवास बनाकर नित्य निवास किया करते हैं।

२- जिस वैष्णव के हृदय में कठोरता की नाम मात्र स्थिति नहीं रह जाती, उस हृदय में कोमलता ही कोमलता का संप्रदर्शन सुलभ हो जाता है।

३- कोमल चित्त भगवान का भक्त अपने भगवान के इस गुण को उसी प्रकार अपने में अवधारण कर लेता है, जैसे पिता की सम्पत्ति को पुत्र।

४- कोमलता पूर्ण वैष्णव का हृदय जब पर दु:ख से द्रवीभूत हो जाता है, तब उसके उक्त गुण का प्रत्यक्ष दर्शन प्राणियों को होने लगता है।

५- वैष्णव की वार्ता एवं उनकी दृष्टि भी कोमलता का दर्शन कराती है।

---o---

६२. वैष्णव में अनासक्ति

१- वैष्णव, जब तन-मन-धन, स्त्री-पुत्र सभी भगवान को अर्पण करके ममत्व हटा लिया तो आसक्ति का उन्मूलन हो जाना उसके लिये सहज हो जाता है।

२- वैष्णव जब अपने को भगवान का भोग समझ लिया, भोक्तापन की गन्ध गल गई तो भोगों में उसकी आसक्ति का होना असम्भव हो जाता है।

३- वैष्णव में जब अहंकार का अभाव हो गया तो ममकार की मृत्यु हो गई, मम के मरने पर कौन और किससे आसक्ति करें।

४- वैष्णव का जीवन जब त्यागमय शान्ति सुधा का स्रोत ही बन गया, तो उसमें आसक्ति के विष वृक्ष का न पनपना स्वाभाविक है।

५- वैष्णव के हृदय में प्रिय और अप्रिय के प्राप्ति में हर्ष-विषाद एवं राग-द्वेष का जब जन्म ही नहीं होता, तो आसक्ति कहाँ से उत्पन्न हो।

---०---

६३. वैष्णव में सत्यता

१- वैष्णव सहज ही सत्य -सनातन, आदि-अंत से रहित विष्णु (व्यापक ब्रह्म) भगवान का उपासक होता है, अस्तु उसकी सभी चेष्टायें सत्य से शोधित रहती हैं।

२- वैष्णव सत्य से बढ़कर कोई धर्म व असत्य से अधिक कोई अपराध नहीं समझता, इसलिये वह सत्य का संग्रही और असत्य का परित्यागी होता है।

३- वैष्णव सत्य को अग्रसर करके ही सत्य परमात्मा की प्राप्ति के लिये आगे कदम उठाता है, क्योंकि उसके ज्ञान में सत्य के सहारे ही सत्य की प्राप्ति होती है, यह दृढ़ निश्चय है।

४- वैष्णव से आकृष्ट सत्य स्वयं आकर असत्य को बहिष्कृत करके सदा-सदा के लिये वैष्णव हृदय को अपना निवास स्थान बना लेता है, इसलिये वैष्णव के स्वभाव में सत्य ही सत्य का दर्शन होता है, जैसे किसी को पिशाच लगने पर उसके आचरण में पिशाचीपने का दर्शन स्वाभाविक होता रहता है।

५- वैष्णव सत्य के दर्शन करने पर सत्य-स्वरूप हो जाता है, अस्तु उसके मन-वचन और कर्म सत्य से संसिक्त होते हैं।

---०---

६४. वैष्णव में अहिंसा

१- वैष्णव सहज ही करुणा, कृपा, दया, क्षमा और सौम्यता की मूर्ति होता है, अस्तु वह सर्व देश, सर्व काल में सर्व प्राणियों को कठिन से कठिन परिस्थिति के प्राप्त होने पर त्रिकरण अहिंसा के द्वारा अभयी बनाये रहता है।

२- वैष्णव को जब चराचर में भगवत दर्शन पाने की दृष्टि प्राप्त हो गई तो वह किसी की किसी प्रकार की हिंसा क्योंकर करे। वह किसी को कष्ट पहुँचाना भगवान को पदाघात करने के समान जानता है।

३- वैष्णव सर्वभूतों को आत्मवत समझता है अस्तु आत्मघातानुरूप अपने से अपने को क्लेशित करते उससे नहीं बनता।

४- वैष्णव, पर को पीड़ित करने के समान कोई पाप और अपने पतन का कोई हेतु नहीं समझता, इसलिए वह त्रिकरण हिंसा से अछूता ही बना रहता है।

५- वैष्णव के हृदय-देश में किसी प्राणी के किसी प्रकार के हिंसा करने की वृत्ति का कारण आंशिक रूप से भी नहीं रहता, तो वह हिंसा कैसे करें, अस्तु वह अहिंसक ही बना रहता है।

---०---

६५. वैष्णव में अस्तेय

१- वैष्णव का हृदय निर्मल एवं छल-कपट और सर्वथा चौर्यता के दोष से रहित होता है क्योंकि वह आप्त-कामना के भावना से भावित किया गया है।

२- वैष्णव जब अपनी वस्तु को अपनी और अपने उपयोग के लिये नहीं समझता तो दूसरों के द्रव्यादि को अपहरण करने का कुविचार उसके मन में कैसे आये।

३- वैष्णव अन्यायोपार्जित एवं संसारासक्त पुरुषों से प्रदत्त धन को नहीं ग्रहण करता, क्योंकि इससे उसके स्वरूप की हानि होती है, अस्तु अस्तेय गुण से वह युक्त रहता है।

४- वैष्णव का योगक्षेम स्वयं लक्ष्मीपति भगवान करते हैं। वे अपने आश्रित के प्रिय एवं हित करने में सदा सावधान रहते हैं, अस्तु निश्चिन्त वैष्णव चौर कर्म को स्मरण तक नहीं करता।

५- वैष्णव महान से महान कष्ट सहन करने में सक्षम होता है, किन्तु शास्त्र विरोधी आचरण के अपनाने में असहिष्णु होता है, इसलिये वह अस्तेय नामक शुभ गुण से सर्वदा सुशोभित होता है।

६६. वैष्णव में ब्रह्मचर्य

१- वैष्णव परदाराभिमर्शन को हलाहल विष और निज पत्नी अनुभव को दूध में मिला हुआ विष समझते हैं, अस्तु वे ब्रह्मचर्या में ही चरते हैं।

२- वैष्णव वेद-विहित स्वकीया नारी भोग को भी प्रभु-प्रेम-प्राप्ति एवं उनके कैंकर्य लाभ का विरोधक समझते हैं, अस्तु विषय सेवन से वे सदा बचे रहते हैं।

३- वैष्णव सहज ही वैराग्यवान होते हैं। वे स्त्री-विलास को वमन के समान परित्याग किये रहते हैं। उन्हें स्त्री का कामुक स्पर्श काँटों के समान चुभता है, अस्तु वे सहज ही ब्रह्मचर्य से युक्त रहते हैं।

४-वैष्णव विषयानुभव से स्वरूप की महा हानि समझते हैं, अस्तु स्वरूपज्ञ वैष्णव विषय को मन से भी स्मरण न कर ब्रह्मचारी ही बने रहते हैं।

५- विशुद्ध वैष्णव के हृदय में विषय सेवन की रुचि ही उत्पन्न नहीं होती, अस्तु ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित वीर्य लाभ लेकर तत् शक्ति तथा तत्तेज से ब्रह्म (विष्णु) चिन्तन में सदैव मग्न रहते हैं।

---o---

६७. वैष्णव में अपरिग्रह

१- वैष्णव के हृदय में अप्राप्त वस्तु के पाने की कामना और प्राप्त वस्तु में राग-द्वेष की भावना नहीं होती। वह अपनी आवश्यकताओं को अत्यन्त क्षीण बना लेता है, इसलिए देह-यात्रा के निर्वाह मात्र से अधिक अन्य कुछ भी संग्रह न करना उसका स्वभाव होता है।

२- वैष्णव में जब अहंकार के अभाव से ममता का समूल संहार हो जाता है, तब उसे किसी वस्तु के परिग्रह की कामना अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती।

३- वैष्णव परिग्रह को भगवत-भजन एवं प्रभु-प्राप्ति का विरोधक समझता है, अस्तु वह संग्रही नहीं होता।

४- वैष्णव अपने योग-क्षेम का भार भगवान को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है, अस्तु स्वयं के लिए संग्रह करने की उसे क्या आवश्यकता ?

वह तो अपने एक आराध्य देव के दासत्व अर्थात् वैष्णवत्व की ही कामना वाला होता है।

५- वैष्णव के मन्दिर, स्थान और आश्रम में जो संग्रह देखा जाता है, उससे वह अलिप्त रहकर ममत्व बुद्धि से विहीन होता है, संग्रहीय वस्तु को भगवत और भागवत की सेवा के लिये उन्हीं की समझकर सेवक की भाँति रक्षा करता है, वह अपनी वस्तु है तथा अपने भोग के लिए है, मन से भी कभी स्वीकार नहीं करता।

---o---

६८. वैष्णव में संतोष

१- वैष्णव के आप्तकाम हृदय में अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा अनुदित ही बनी रहती है, साथ ही प्राप्त वस्तु में उसका चित्त राग-द्वेष एवम् ग्रहण-त्याग के आग्रह और आसक्ति से युक्त नहीं होता, इसलिए वह सदा अपने ही आप में संतुष्ट बना रहता है।

२- वैष्णव को एक मात्र सर्वस्व धन श्रीपति भगवान ही जब मिल गये, तो फिर तुच्छ वस्तुओं के लिए उसका मन क्यों ललचाये। पारस मणि के प्राप्त होने पर अन्य द्रव्य की अभिरुचि का उद्भूत न होना स्वाभाविक है।

३- जिस वैष्णव के हृदय-स्थल से चिन्ता ने अपना आसन उठा लिया, चाह कृशता को प्राप्तकर मृतप्राय हो गई, उसका हृदय सर्वदा संतोष का वास स्थान बन जाता है।

४- जिस वैष्णव के मन में भगवान के अतिरिक्त अन्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रह गया, तो उसके हृदय में अन्य के पाने की अभिलाषा ही क्योंकर उत्पन्न हो। वहाँ तो संतोष ही संतोष का साम्राज्य संप्रतिष्ठित हो जाता है।

५- जब वैष्णव का मन निज सुख में विलीन हो जाता है, तब चित्त की चंचलता चली जाती है, अस्तु उस हृदय स्थली में संतोष ही संतोष का दर्शन होता है।

---o---

६९. वैष्णव में शौच

१- वैष्णव अपने देह को भगवान के कैंकर्य के योग बनाने के लिए जल और मिट्टी से सदा स्वच्छ और पवित्र रखता है।

२- वैष्णव इन्द्रिय निग्रह के द्वारा अपनी इन्द्रियों को पवित्रतम रखता है, ताकि वे भगवत विषयिनी बनी रहें।

३- वैष्णव शम के सहारे अपने मन का निग्रह करके उसे अचंचल और पवित्र बना देता है, जिससे चित्त सहज ही प्रभु का चिन्तन करने में समर्थ हो जाता है।

४- वैष्णव अपने स्वरूप से अपने बुद्धि के पृथकत्वपने का सत्य ज्ञान बुद्धि में स्थित कर बुद्धि ही को सूक्ष्म और पवित्रतम कर देता है ताकि वह भगवान का वरण करके उन्हीं के विमर्श में लगी रहे।

५- वैष्णव अपनी आत्मा भगवत्-अर्पण कर आत्मा को भगवान का सहज शेष भूत दास और भोग्य वस्तु समझने लगता है। अकार त्रय सम्पन्न होकर वह परम पवित्र पावन को भी पावन करने वाला तीर्थीभूत हो जाता है।

---o---

७०. वैष्णव में विनय एवं नम्रता

१- वैष्णव स्वभाव से विनय शील एवं नम्र होता है, क्योंकि वह नैच्यानुसंधान में सर्वदा निरत रहता है।

२- वैष्णव सर्व भूतों में स्थित अपने उपास्य देव के दर्शन का अभ्यासी होता है, अस्तु अपने भगवान के सम्मुख विनय मुद्रा से उपस्थित होना उसका सहज धर्म होता है।

३- वैष्णव विवेकवान और उदारात्मा होता है, अस्तु विद्वान में विनय का दर्शन तदनुकूल ही है।

४- वैष्णव में जब अहंकार ही नहीं, तो उसमें अविनयता का उदय कहाँ से हो, इसलिए वह विनम्र होता है।

५- वैष्णव दास धर्म विग्रहवान होता है, उसमें स्वरूप-विरोधी

कोई दुर्गुण उद्भूत नहीं होते, अतएव उसमें नम्रता का नव-नव निखार दृष्टिगोचर होता रहता है।

---०---

७१. वैष्णव में वात्सल्य

१- वैष्णव का हृदय-कोष वात्सल्य गुण से परिपूर्ण होता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ उक्त गुण का उपयोग करके उसे सुखी बनाने की चेष्टा करता है।

२- जब सभी भूतों में वैष्णव को अपनी आत्मा और परमात्मा का दर्शन होने लग् जाता है, तब वह स्वाभाविक सबका हितैषी बन जाता है, तथा वात्सल्य गुण से सम्पन्न हो जाता है।

३- सर्व प्राणियों में अपनत्व की भावना उदय हो जाने पर वैष्णव सहज ही प्रेम पूर्ण बर्ताव सबके साथ करता हुआ वात्सल्य गुण से वंचित नहीं रहता।

४- प्रभु कृपा से वैष्णव में वात्सल्यता का प्रादुर्भाव होना सहज हो जाता है।

५- वैष्णव में परोपकार की भावना वात्सल्य गुण की जननी है, अस्तु वात्सल्य भाव से भावित हो जाना उसका सहज स्वभाव है।

---०---

७२. वैष्णव में सौलभ्य-दर्शन

१- वैष्णव स्वयं अमानी बनकर अन्य सभी प्राणियों को मान देने के स्वभाव वाला होता है, इसलिये वह निम्न वर्गों को भी सुलभ रहता है।

२- वैष्णव सभी जीवों की प्रसन्नता को भगवान की प्रसन्नता समझता है, अस्तु अपने मिलने की कामना करने वाले किसी को भी वह सुलभ हो सकता है।

३- वैष्णव अपने प्राप्ति की इच्छा करने वाले निम्न कोटि के प्राणियों को भी इसलिये सुलभ हो जाता है, कि हमारे मिलने से अमुक व्यक्ति का

अन्त:करण सुखी होगा-जिस प्रकार से उसे सुख-सुविधा संप्राप्त हो सके वही कर्तव्य करना उस जीव में प्रतिष्ठित हमारे भगवान की पूजा होगी। ऐसी वैष्णव की दृढ़ मान्यता होती है।

४- वैष्णव स्वयं को सेवक समझता हुआ चराचर संसार को अपने स्वामी का स्वरूप मानता है, इसलिये स्वाभाविक वह सबको सुलभ होता है।

५- वैष्णव सर्व भूतों में दया रखता हुआ सबका हितकारी होता है, अस्तु उसके सौलभ्य गुण का दर्शन सभी को संप्राप्त रहता है।

---o---

७३. वैष्णव में धैर्य

१- वैष्णव करोड़ों विघ्नों के बादलों द्वारा विद्युत पात होने पर भी अचंचल और प्रसन्न बदन बना रहता है क्योंकि वह संतुलित मन वाला संत स्वभाव से सदा संयुक्त रहता है।

२- वैष्णव, समूह संघर्षों, उत्कृष्ट उतार-चढ़ावों और अनेकानेक आपत्तियों के आने पर भी हिमगिरिवत धैर्यवान बना रहता है। वह उतावला और अप्रसन्न कभी नहीं होता। अपने संकट को शीघ्र दूर करने के लिए प्रभु से प्रार्थना भी नहीं करता क्योंकि उसे महाविश्वास है कि हमारे रक्षक हमारे भगवान स्वयं रक्षा करने को कटिबद्ध हैं, उनका जो भी संविधान है, वह हमारे योग और क्षेम के लिये ही है।

३- वैष्णव सभी कष्टों को अपने पापों का परिपाक समझकर भोगने में सहिष्णु होता है, अस्तु आपत्तियों में आसक्त और उद्विग्न न होकर अटल धैर्य को धारण किये रहता है।

४- वैष्णव कठिन से कठिन परिस्थिति के प्राप्त होने पर भी घबराता नहीं क्योंकि उसे वह अपने उन्नति के लिए आई हुई प्रभु प्रसाद की पूर्व भूमिका मानता है।

५- वैष्णव में मुदिता गुण की अधिकता के कारण विषाद के आने का अवसर ही नहीं आता। किसी भी परिस्थिति में उसका धैर्य-बाँध नहीं टूटता।

---o---

७४. वैष्णव में वीरता

१- वैष्णव अनंत जन्म के प्रकृति जन्य नैसर्गिक स्वभाव को शमदमादि गुणों के द्वारा जीतकर मन समेत इन्द्रियों को अपने वश में करके स्वाराज्य सिंहासन में अपने प्रभु को प्रतिष्ठित कर उनके कैंकर्य में देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि और आत्मा को अनवरत लगाये रहता है।

२- वैष्णव प्राण प्रण से भागवत धर्म को निभाने में समर्थ होता है। वह आपत्ति काल में भी अचंचल बना हुआ काम-लोभ और भय से स्वपथ का परित्याग नहीं करता।

३- वैष्णव प्राणों की बाजी लगाकर ही प्रेम-पथ का अनुसरण करता है, वह अपने शिर को धड़ से उतार कर पैरों से उसे कुचलता हुआ विष्णु-पुर को पयान करता है।

४- वैष्णव, वैष्णव धर्म के रथ पर आरूढ़ होकर वीरता का परिचय देता हुआ इस अजेय संसार को उसके साथियों सहित जीतकर विश्व-विजयी पद पर अभिषिक्त होता है।

५- वैष्णव, आचार्यानुमोदित वार्ताओं के पालन करने तथा गुरु के प्रिय और हित करने में अपनी आत्मा का उत्सर्ग सर्व भावेन करने के लिये सदोद्यत रहता है।

----o----

७५. वैष्णव में अकिंचनता

१- वैष्णव अपने को सर्वभावेन सर्वसाधन हीनता से संयुक्त पाता है अर्थात् पुरुषार्थ की प्राप्ति में अपने उपाय के अभिमान का दर्शन उसे नहीं होता, इसलिए अकिंचन वृत्ति वाला बना रहता है।

२- वैष्णव से भगवान विष्णु के अतिरिक्त किसी देवी-देवताओं की आराधना नहीं हो पाती अस्तु किसी अन्य बल और स्वबल की अनुपस्थिति उसे अकिंचन बनाने में बाध्य करती है।

३- वैष्णव को भगवान अतिरिक्त संसार में स्थान प्रदायक परलोक की आस बँधाने वाला कोई अपना सगा-सम्बन्धी और हितकर नहीं दृष्टिगोचर होता, इसलिए वह अकिंचनता के अलंकार से सदा अलंकृत रहता है।

४- वैष्णव अपनी आत्मा को भी अपने आत्म कल्याण की सहयोगिनी नहीं समझता। वह एक भगवान को ही निर्पेक्षोपाय एवं कल्याण प्रदाता जानता है, अस्तु अकिंचनता उसे वरण किये रहती है।

५- वैष्णव देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाहंकार और उपेयाहंकार से सर्वदा अछूता रहता है, अस्तु वह अकिंचनता की साकार मूर्ति होता है।

---o---

७६. वैष्णव में दृढ़ निश्चयता

१- वैष्णव दृढ़ निश्चयी होता है, क्योंकि उसकी बुद्धि नायिका ने धीरोदात्त नायक भगवान का वरण करके पूर्ण पतिव्रत धर्म परायणा सती साध्वी का स्वरूप प्राप्त कर लिया है।

२- वैष्णव गुरु वचनों में प्रत्यक्ष से भी अधिक प्रतीति करने वाला होता है, इसलिए वह अपने परमाचार्य के निर्धारित पथ और लक्ष्य में कभी अनिश्चय नहीं करता वरन दृढ़ता से सदाचार्य के मार्ग को काम, लोभ और भय के कारण किसी मूल्य पर त्याग न करके ग्रहण किये रहता है।

३- वैष्णव में संशय-समुदायों के विनष्ट हो जाने पर उसका पथ स्वयं दृढ़ निश्चय के साथ प्रशस्त हो जाता है, अस्तु वह अपने भागवत धर्म में स्थैर्यता बनाये रहता है।

४- वैष्णव अपने निश्चय में इतना दृढ़ होता है कि उसे ब्रह्मा, विष्णु व महेश भी अनेकानेक प्रलोभनों का प्रदर्शन कराते हुए ध्येय से विचलित नहीं कर सकते, तो औरों की क्या कथा।

५- सत्संग परायण वैष्णव, सत और असत का ज्ञान एवं अर्थ पंचक तत्व का ज्ञान भली-भाँति आत्मानुभूति के साथ जान लेता है इसलिए वह अपने ज्ञान में सदा अडिग बना रहता है।

७७. वैष्णव में परोपकार की भावना

१- वैष्णव स्वधर्म से सराबोर सहज ही सर्वभूतों का सुहृद होता है अस्तु उसके हृदय-गगन में सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति कल्याण कामना की चन्द्र-जोत्स्ना उदित होकर अपने आचरण के किरण समूहों से सब को सुशीतल करती रहती है।

२- वैष्णव सम्पूर्ण संसार को अपने भगवान का शरीर समझता हुआ सर्वभूतों में प्रभु को ही प्रतिष्ठित देखता है, अस्तु सब के हित में तत्पर रहना ही वह प्रभु की पूजा समझता है।

३- वैष्णव आत्मवत सर्वभूतों के सुख-दुख को जानता है, इसलिये अपनी ही तरह सबको सुखी बनाने में प्रयत्नशील बना रहता है, क्योंकि स्वयं कष्ट सहकर भी सबको सुखी करना उसके स्वभाव में उतर आता है। अत: वह सदैव ही सबके हित साधन में तत्पर-स्वभाव वाला होता है।

४- वैष्णव के हृदय में अपने अपराधी के प्रति भी अपकार की भावना का उठना असंभव होता है, इसलिए वह सहज ही परोपकारी होता है।

५- वैष्णव अपने तन-मन-धन-बल-गुण सम्बन्धी सर्व विभूतियों की उपयोगिता परोपभोग में समझता है, स्वानुभव में नहीं। अतएव वह परोपकार को अपना कर्तव्य समझता है, जिसमें अहं आसक्ति और फल की कामना नहीं होती, भगवदर्थ ही सब कुछ होता है।

---०---

७८. वैष्णव का लोक व्यवहार

१- वैष्णव, जगत-समुदाय को परमात्म शरीर समझकर मन से नमन करता है, किन्तु लोक-व्यवहार की रक्षा के लिए शिष्य, पुत्र, स्त्री, सेवक आदि अपने से छोटों के लिये आगे से उनके चरणों में प्रणाम नहीं करता अपवाद रूप में अत्यन्त भाव विभोर की परिस्थिति में पहुँचकर भले ही उसकी रक्षा न हो सके। निम्न वर्ग के प्राणियों को ही नहीं पशु-पक्षी और वृक्ष-लता को भी मान देना तो उसका सहज स्वभाव होता है।

२- वैष्णव, वैष्णव जनों को छोड़कर संसारियों से कुछ नहीं चाहते,

उनके आग्रह से भी अपने लिये कुछ ग्रहण करना उन्हें असाध्य है, परन्तु अपने समीप आये हुये प्राणि मात्र का सादर स्वागत समयानुसार अन्न, जल, आसन और वचन के द्वारा करते हैं, क्योंकि वे आगन्तुक की सेवा भगवत सेवा समझते हैं।

३- लोक में अवैष्णव जन वैष्णवों को अनादर, अपमान, निन्दा, गाली और मार-पीट के द्वारा भले ही कष्ट पहुँचावें, किन्तु वैष्णव भूल कर भी अपने से अनिष्ट व्यवहार करने वाले संसारी जनों का अहित चिंतन नहीं करता, उलटे उनके कल्याण की कामना करता है। प्रतिकूल प्राणियों को पापी कहना एवं उनके दोष का चिंतन करना महान अपराध समझता है। प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को वह अपने अपराध का परिणाम एवं प्रभु की प्रसादी मानता है, जो स्वयं के सुधार के लिये आई है, अस्तु सहज शीलता से भरे हुये क्षमा-दया से युक्त बना रहता है।

४- वैष्णव, संसारी अवैष्णव जनों के संसर्ग से दूर रहता है, ताकि उनके समान अपने भी न हो जाय, पर यह चाहता है, कि हे प्रभो सभी लोग कल्याण भागी हों, सुख स्वरूप हों, आपके हो जाँय। संसारियों का संग न करने में घृणा और द्वेष कारण नहीं है, उनके पथ का वैषम्य हेतु है। जैसे उत्तर दिशा को जाने वाला व्यक्ति दक्षिण दिशा-प्रस्थान करने वाले पुरुष के साथ कैसे पयान करे।

५- वैष्णव की रसोई भगवान के भोग के लिए बनती है, संसारी जनों की अपने लिए। इसलिए भोजन प्रसाद का भी ग्रहण अवैष्णव के यहाँ वैष्णव का युक्त नहीं होता, किन्तु संसारी लोगों को सादर सप्रेम वैष्णव अपने यहाँ भगवत प्रसाद का भोजन कराकर उनकी क्षुधा शांति करता है व अन्य उपयोगी वस्तुओं को प्रदान करता है।

---o---

७९. वैष्णव में श्रुतिशास्त्रानुकूलता

१- वैष्णव, वेद-पथ का परित्याग कभी नहीं करते। प्रेम की उच्चस्थिति में विधि निषेध का सम्बन्ध अपने आप टूट जाता है, तोड़ना नहीं पड़ता। यह होना भी श्रुति सम्मत ही है।

२- वैष्णव, संसार संग्रह के लिए शास्त्र का संरक्षण किया करते हैं, वे ज्ञानी होकर भी अज्ञानियों के बीच वही आचरण करते हैं, जिससे उन्हें संशय, भ्रम, भेद और मोह न हो, क्योंकि लोक उसी आचरण को सर्वश्रेष्ठ समझकर अपने में उतारते हैं, जिसे महज्जन अपने आचरण में लाते हैं।

३- वैष्णव, श्रुति-शास्त्र को भगवान की भास्वती भव्य वाणी समझते हैं,अस्तु वे कभी श्रुति-शास्त्रों के सिद्धांतों से पृथक नहीं होते।

४- वैष्णव, शास्त्र की अवहेलना करने से अपने पतन का विश्वास करते हैं, इससे वे सर्वदा शास्त्र संरक्षण में संलग्न रहते हैं।

५- किसी भी वैष्णव में सहज ही शास्त्रानुमोदित बर्ताव देखने को मिलता है, क्योंकि वे वेद-वेद्य प्रभु के दास हो चुके हैं, वेद के बिना उन्हें अपने इष्ट का ज्ञान ही असम्भव प्रतीत होता है।

---o---

८०. वैष्णव में त्रिगुणातीतता

१-अनन्य प्रेमा-भक्ति का आश्रय लेने से वैष्णव सहज ही में तीनों गुणों के पार हो जाता है। वह सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के कार्य रूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के उदय होने पर न तो उन्हें बुरा समझता है और न अस्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है।

२- स्वरूपज्ञ वैष्णव प्रकृति से सर्वथा परे एवं विलक्षण चेतन तत्व का अपरोक्ष ज्ञान रखता है, अस्तु प्रकृति के कार्य सत-रज तम के उदय होने पर अहं विहीन वैष्णव उनसे अलिप्त ही बना रहता है।

३- वैष्णव को भगवत और भागवतों की सेवा करते-करते शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, इस प्रकार कैंकर्य-रत स्वभाव से युक्त वैष्णव त्रिगुणातीत हो जाता है।

४- वैष्णव, कर्ता और कारयिता अपने को न समझता हुआ कर्तव्य बुद्धि से भगवदर्थ आसक्ति रहित तदनुकूल कर्म करता है, अस्तु वह संसार से असंग रहता है। असंग रहना ही त्रिगुणातीतता है।

५- भगवान के परावर स्वरूप का दर्शन करने से वैष्णव अपने सहज स्वरूप में स्थित होकर त्रिगुणातीत बन जाता है।

८१. वैष्णव की महानता

१- वैष्णव अपने को विश्व का बन्धु तथा विश्व को अपना बन्धु मानता हुआ तदनुकूल आचरण करता है। वह भव्य भाव को धारण किये महान होता है।

२- वैष्णव सर्वभूतों में अपनी आत्मा का एवं अपने में सर्व भूतों का दर्शन करता हुआ सबके अनुकूल आचरण करता है, अस्तु वह महत-पद में प्रतिष्ठित होकर विश्वात्मा बन जाता है।

३- वैष्णव, विश्व को भगवान समझता है, उसे चराचर में भगवद्दर्शन होते हैं। वह सबके हित में लगा रहना ही प्रभु की पूजा समझता है, अस्तु वह महानता को प्राप्त होता है।

४- वैष्णव अनंत के ध्यान से अनंत हो जाता है, इसलिये महानता उसका वरण कर लेती है।

५- वैष्णव के हृदय में आर्योचित एवं भगवद्धर्मानुमोदित सभी श्रेय-दिव्य गुण आकर उसे अलंकृत कर देते हैं, इसलिये वह महा-महिम्न-पद का अधिकारी बनकर शोभायमान होता है।

---o---

८२. वैष्णवों में दैन्यता

१- भगवान दीनबन्धु गरीब निवाज हैं। जब तक जीव दीन नहीं बनता तब तक प्रभु उसके बन्धु नहीं बनते, अस्तु वैष्णव दैन्यता के अलंकार से अलंकृत होकर भगवत कृपा-पात्र बनने के अधिकारी बनते हैं।

२- वैष्णव संसार में मित्रोत्कर्षाकांक्षी अपना कोई सहायक साथी नहीं पाते जो प्रकृति के उस पार जाने में साथ दे। सभी सगे संसारी, संसार को विवर्धन करने वाले स्वार्थ से सने होते हैं, अस्तु वे साधनहीन, मायाधीन अपने अनंत अपराधों का स्मरण कर अनुताप से जलते हुए प्रभु प्राप्ति के उपाय से शून्य होकर दैन्यता की साकार मूर्ति बनकर एक हरि चरणों का आश्रय ग्रहण करते हैं।

३- जगज्जनों के पदाघात से बार-बार अपमानित वैष्णव प्रभु की शरण लेते समय दैन्यता की ही भेंट अर्पण करते हैं।

४- अपने अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट की प्राप्ति अनेकानेक साधनों के करने पर जब नहीं सुलभ होती तब अपने बल के अहंकार की समाप्ति होने पर दैन्यता जीव को स्वयं वरण कर लेती है।

५- जीव स्वयं अल्पज्ञ और प्रभु के परतंत्र है। दैन्यता उसका सहज स्वरूप है, इसलिये वैष्णव ब्रह्मा, विष्णु और महेश के पद को पाकर भी अहंकार, ममकार के आधीन नहीं होते। सदा शिर नत संपुटाञ्जलि भगवत के सामने खड़े होकर प्रतीक्षा किया करते हैं, कि कृपा सिन्धु कुछ कैंकर्य करने के लिये कहेंगे क्या ?

---०---

८३. वैष्णव में स्वपापानुसंधानत्व

१- वैष्णव अपनी आत्मा के प्रकृति सम्बन्ध का हेतु अपनी विषय प्रावण्यता तथा भागवतापचार को मानते हैं।

२- इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति न होने का कारण वैष्णव अपने अपराधों को ही स्वीकार करते हुये रो-रोकर कहने लगते हैं, कि हाय मैं आर्तिपूर्ण प्रपत्ति न करने से कृपा का अधिकारी नहीं, अनन्य प्रयोजन न होने से प्रभु के प्रेम पात्र बनने का अधिकारी नहीं और जानबूझ कर अपराध करने से क्षमा पाने का अधिकारी नहीं। हाय प्रभु को छोड़ कोई द्वार नहीं, मुझे उन्हीं का आश्रय है।

३- विरह वेदना से व्यथित वियोगी वैष्णव मरण-प्राय होने पर भी जब प्रभु की अप्राप्ति पर विचार करते हैं-तब अपने पापों को प्रतिबन्धक मानते हैं।

४- विरहातुर वैष्णव देह-छूट जाने की इच्छा करते हैं, किन्तु प्रारब्ध वश शरीर शीघ्र शांत न होने पर स्वपापों को ही उसका कारण मानते हैं।

५- वैष्णव देह अछत भगवद्दर्शन पाकर पुन: उनके तिरोधान में एवं एक पूर्ण प्रभु प्रेम की अप्राप्ति में अपने कलुषित कर्मों को ही दोषी ठहराते हैं।

---०---

८४. वैष्णव में विषयासक्ति का सर्वथा अभाव

१- साधक वैष्णव पाप समझकर कामादि सेवन से सदा विरत रहते हैं, जब स्वपत्नी संग इन्हें अच्छा नहीं प्रतीत होता तो पर स्त्री का चिंतन उनका चित्त कैसे करे।

२- प्रपन्न एकान्तिक वैष्णव विहित विषय (स्व-स्त्री सेवनादि) को भी विष मिला हुआ दुग्ध समझकर नहीं सेवन करते, क्योंकि वे अपने को स्वयं भगवान का भोग्य पदार्थ समझते हैं, इसके विपरीत निज को भोक्ता मानने से उनके स्व-स्वरूप की हानि अवश्य सम्भव है।

३- परमैकान्तिक वैष्णव के परमात्मलीन चित्त में विषय सेवन की रुचि ही नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि उन्हें स्त्री-पुरुष का ज्ञान ही नहीं, वे अपार सच्चिदानंदामृताम्भोधि में मगन रहते हैं।

४-कोटि-कोटि कंदर्प-दर्प-दलनकारी भगवान के दासों को कामदेव के बाणों का प्रभाव किंचित प्रभावित नहीं कर सकता, क्योंकि वे अपने आराध्य देव की सहज रक्ष्य वस्तु हैं।

५- वैष्णव को जब विषय सेवन की हेयता एवं भगवत भजन की श्रेयता चित्त में स्थिर हो गई तो वे काम सेवन कैसे करें। जैसे विष और अमृत के ज्ञान हो जाने पर स्वाभाविक लोग विष पान नहीं करते और अमृतास्वाद लेने के लिये लालायित रहते हैं। अमृत के अप्राप्ति में भी गरल पान तो नहीं ही करते।

नोट - गृहस्थ वैष्णव में स्व-स्त्री सेवन का जो दर्शन होता है, वह कर्तव्य समझकर शास्त्र के रक्षार्थ एवं प्रजा वृद्धि रूप कैंकर्य की भावना से नतु विषय लिप्सा से।

---०---

८५. वैष्णव की विषयासक्ति

१- वैष्णव के श्रवण-समुद्र नाना प्रकार के भगवत कथा, कीर्तन रूपी, नदियों से भरते हुये कभी पूर्णता को नहीं प्राप्त होते, सर्वदा सुन्दर-सुन्दर सरिताओं का सुखद जल अपने में आता ही रहे, यही एक कामना कर्ण-सिन्धु को रहती है।

२- वैष्णव के नेत्र साधु-दर्शन एवं भगवद्दर्शन के लिये लालायित बने रहते हैं, सौभाग्य से उक्त दोनों के दर्शन सुलभ हो जाने पर उनकी रूप रसिकनी आँखें अवलोकन करती हुई भी अतृप्ति का अनुभव करती हैं।

३- वैष्णव की रसनेन्द्रिय भगवान के अधर सुधा से सिक्त शीथ प्रसादी के सेवन से जिस आनन्द का आस्वाद लेती है, वह वर्णनातीत है,वह तो, सदा-सदा उस अनुपम रस के ग्रहणार्थ आतुर बनी रहती है।

४- वैष्णव की घ्राणेन्द्रिय भगवच्चरणों में अर्पित पुष्प, तुलसी, चन्दन और इत्र प्रसाद का घ्राण ग्रहण कर सुफल मनोरथ तो होती है, किन्तु सूंघने की लालच को संवरण नहीं कर सकती।

५- वैष्णव की त्वकेन्द्रिय-भगवद्भागवत के पादारविन्दों को कर से स्पर्श, मुख से चुम्बन और हृदय से आलिंगन करके ही तृप्त एवं कृतकृत्य होती है, परन्तु स्पर्श-विषय की कामना कभी कम नहीं होती। उत्तरोत्तर नव-नव प्रवर्धमान होकर वैष्णव को अतृप्ति का ही अनुभव कराने में प्रयत्नशील बनी रहती है।

नोट :- वैष्णव अपने आत्म रमण में रमने वाला महान विषयी होता है, किन्तु उसका विषय निरतिशय सच्चिदानन्दमय शाश्वत सुखद होता है, जो भौतिक विषय से सर्वथा परे विलक्षण और भिन्न है।

८६. वैष्णव में अक्रोधता

१- वैष्णव में काम न होने से क्रोध कहाँ से उत्पन्न हो, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता।

२- वैष्णव प्रत्येक प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति में अपने अन्तर्यामी भगवान का दर्शन करता है, तो क्रोध किस पर करे।

३- वैष्णव किसी के द्वारा किये हुये प्रतिकूल व्यवहारों में उनको कर्ता नहीं मानता, उसके ज्ञान में वह परिस्थिति प्रभु प्रेरित अपने पाप का परिणाम है जो अपने परिशुद्धता के लिये ही प्राप्त हुई है, अस्तु प्रतिपक्षी के अभाव में क्रोध कैसे उत्पन्न हो।

४- स्वरूप निष्ठ वैष्णव को प्रतिकूलता से न द्वेष है न अनुकूलता से राग ! उसे प्रियाप्रिय प्राप्त होने में न प्रयोजन है न अप्रयोजन, इसलिये उसे क्रोध कहाँ से अपने वश में कर सके।

५- वैष्णव शम-दम से संयुक्त सत्संग परायण शान्ति पूर्ण चित्त से प्रभु के नाम, रूप, लीला, धाम में मगन रहता है, व्यर्थ के लिये उसके पास एक क्षण समय नहीं है, अस्तु वह अक्रोध की मूर्ति होता है। लोगों द्वारा क्रोध उत्पन्न होने के कारण उपस्थित करने पर भी वह शान्त चित्त बना रहता है।

---o---

८७. वैष्णव में निर्मोहता

१- वैष्णव में काम क्रोध का अभाव होने से संमोह उत्पन्न होने का कोई बीज ही नहीं मिलता।

२- वैष्णव साधु-समागम का निरन्तर सेवन करते हुये भगवल्लीलानुवर्णन और श्रवण किया करते हैं, इसलिये उनके हृदय में मोह के लिये स्थान ही नहीं रहता।

३- वैष्णव के मुख से श्री हरि का नाम निरन्तर निकलता रहता है जो मोह को भस्मीभूत बनाने वाला है, अस्तु वैष्णव में निर्मोहता सर्वदा विद्यमान रहती है।

४- वैष्णव शम, दम, सतसंग और विचार के द्वारा मोह रात्रि से सदा जगे रहते हैं, इसलिए महा बलवान मोह उन्हें अपने प्रभाव से प्रभावित नहीं कर सकता, जैसे जाग्रत अवस्था में स्वप्न का दर्शन दुर्लभ होता है।

५- आचार्याभिमानी वैष्णव सद्गुरु शुश्रुषा परायण होते हैं। वे गुरु वचनों को प्रीति प्रतीति पूर्वक सम्मान कर धारण किया करते हैं, इसलिये सद्गुरु-सूर्य के वचन किरणों से शिष्य के हृदय-प्रांगण में मोहान्धकार नहीं रहता।

---o---

८८. वैष्णव में लोकैश्वर्य निर्पेक्षता

१- वैष्णव भगवान से देह सम्बन्धी ऐश्वर्य चाहें तो उन्हें प्रेम रूपी परमार्थ और भगवद् कैंकर्य स्वरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति न होगी, इसलिये वे ऐश्वर्य नहीं चाहते।

२- चेतनानुरूप प्रभु की सम्मति अप्राप्ति के कारण एवं देहाभिमान विवर्धन का हेतु समझकर वैष्णव लोभ वश प्रभु से ऐश्वर्य की कामना नहीं करते।

३- ऐश्वर्येच्छा करना ही भव-कूप में गिरने की कोशिश करना है, अस्तु वैष्णव इस दुर्लोभ को दूर से ही नमस्कार करते हैं।

४- ऐश्वर्य सुख परिवर्तन शील, प्राकृतिक और क्षण भंगुर है, भोग काल के पश्चात् ही तुरन्त दुःख का प्रवेश हो जाता है, जो परिताप को प्रवर्धमान करता हुआ अशान्ति का अनुभव कराता है, इसलिये वैष्णव लोभ से दूर भागते हैं।

५- श्री वैष्णव भगवान से शरीर सम्बन्धित किसी प्रकार की कामना करें तो तीन दोष उत्पन्न होते हैं।

१- अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना।

२- स्वस्वरूप विरोधिनी वस्तु के लिये यत्न करना।

३- समाधान को प्राप्त प्रभु के हृदय की शान्ति को भंग करना।

अस्तु वैष्णव ऐश्वर्य के लोभी नहीं होते। उन्हें तो भगवद् प्राप्ति के लोभ ने वरण किया है।

नोट :- इसी प्रकार वैष्णव कीर्तिकामी भी नहीं होते, क्योंकि उन्हें कीर्तिधारी भगवान की दासता ने नैच्यानुसंधान से समाहित चित्त कर दिया है।

---o---

८९. वैष्णव में योग सिद्धियों में वैमुख्य भावना

१- योग की सर्व सिद्धियों का चमत्कार प्रकृति में ही प्रतिष्ठित है। अस्तु अप्राकृत स्थिति में रहने वाला वैष्णव इनकी ओर क्यों ताके।

२- योग-सिद्धियाँ वैष्णव के दरवाजे पर दासी बनने के लिये कर-बद्ध खड़ी रहती हैं, किन्तु भगवत रस का रसिक अपने अनुपमेय अनंत रस के आस्वादानन्द में सिद्धियों को विघ्नकारी समझकर उनसे मुख फेर लेता है।

३- जब योगी को कैवली भूत होने के लिये योग सिद्धियों का परिहार अनिवार्य है, तो वैष्णव विष्णु-पद की प्राप्ति में इन्हें विरोधी समझकर न अपनाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या !

४- योग सिद्धियों की लिप्सा प्रेम-पथ की कंटकाकीर्ण झाड़ियाँ हैं, जो पथिक के वस्त्र या शरीर में चुभकर हठात् मार्गावरोध करती रहती हैं, अस्तु वैष्णव इनको सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता।

५- योग-सिद्धियाँ योगी की प्रतिष्ठा बढ़ाकर जगत में सम्माननीय बना देती हैं, अस्तु जो भगवद्भक्त अमानी बनकर अपने को छिपाये हुये प्रभु प्राप्ति करना चाहते हैं, वे इनके पीछे क्यों पड़ें।

नोट :- वैष्णव को बिना अष्टाङ्ग योग साधन के सर्व सिद्धियाँ सम्मुख आकर नमस्कार करती हैं, परन्तु अकिंचन भक्त, अकिंचन प्रिय प्रभु की प्रसन्नता के लिए किसी काम में इनका विनियोग नहीं करते। यह बात सत्य है, कि कहीं-कहीं अपवाद रूप में सिद्धियों से कार्य सम्पादित करते हुए वैष्णवों को भी देखा गया है, किन्तु वहाँ भगवदिच्छा से भगवद्भागवत कैंकर्य करने के लिए अनासक्त रूप में ग्रहण है, या यों कहिये कि भगवान ही अपने भक्ति की महिमा प्रगट करने के लिये यथा समय भक्त में सिद्धियों का चमत्कार स्वयं दिखा देते हैं, भक्त स्वयं सिद्धि प्रदर्शन का संकल्प भी नहीं करते।

---o---

९०. वैष्णव में मोक्ष निर्पेक्षता

१- भगवद्भक्ति का परित्याग कर मोक्ष सुख को रहने के लिये अवकाश और स्थान नहीं है, जिस प्रकार बिना थल के जल को। अस्तु, वैष्णव मुक्ति की ओर से उदासीन होकर देव दुर्लभा प्रभु के प्रेमाभक्ति की ही स्पृहा रखते हैं।

२- मोक्ष का आग्रह प्रपन्न वैष्णव के स्वस्वरूपानुरूप नहीं अपितु विरोधी है। उन्हें तो चेतन के अनुकूल दास्य पद पर अभिषिक्त होना ही रुचिकर लगता है, अस्तु वे जन्म-मरण से भयभीत न होकर केवल भगवच्चरणों का अखंड, अनन्त और अमल अनुराग चाहते हैं।

३- वैष्णव, बन्ध के समान मुक्ति की कामना को भी बन्धन समझते हैं, क्योंकि मोक्ष का हठ अपने स्वरूप की अस्थिति पर ही संभव है, अस्तु वे बन्ध-मोक्ष के पार होकर मुक्ति-कामी नहीं होते।

४- मुक्ति की स्पृहा-रूपिणी-पिशाची, पराभक्ति-बालिका को प्रवर्धित होने में विघ्नकारिणी सिद्ध होती है, अर्थात प्रेमानन्द के अनंतानन्द का अनुभव, क्षुद्र मोक्षानन्द नहीं करने देता, इसलिये विष्णु भक्त प्रभु से उनके पादारविन्दों की प्रेमाभक्ति ही याचते हैं।

५- स्वइच्छा से न मोक्ष मिलता न बन्धन। यह चेतन सहज ही परम चेतन के परतन्त्र है, अस्तु इसका मोक्ष बन्धन भी प्रभु परतन्त्र है केवल प्रभु सुख के लिए कैंकर्य करना आत्मानुरूप अनागन्तुक और सहज सिद्ध है, इसलिए वैष्णव बन्धन और मुक्ति को आगन्तुक समझकर उसमें नहीं रमते, उनका परम पुरुषार्थ भगवत कैंकर्य ही है

---०---

९१. वैष्णव की निर्भरता

१- प्रपन्न को अभय प्रदान की प्रतिज्ञा करने वाले भगवान का एवं उनके दुन्दुभि घोष सत्यसन्धता पूर्ण वाक्यों का स्मरण करके वैष्णव निश्चिन्त होकर सर्वदा प्रभु पर निर्भर रहते हैं।

२- भगवान अपने अनन्य आश्रयण करने वाले चेतनों के सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर सर्व शोकों से मुक्त कर देते हैं, अस्तु वैष्णव अपने पाप निवृत्ति का प्रयत्न स्वयं न कर प्रभु पर निर्भर रहते हैं।

३- भगवान अपने अनन्य आर्त-प्रपन्नों के योग क्षेम वहन करने का सहज स्वभाव बना रक्खे हैं, अस्तु विश्वासी वैष्णव अपने इष्ट के बल पर समस्त व्यापारों को छोड़कर निश्चिन्त हो जाते हैं।

४- भगवान स्वयं निर्पेक्षोपाय हैं, जीवों के कल्याण की कामना से ही उन्होंने अपने कमर में कमरबन्द कसकर पहन रखा है, अस्तु यह जानकर वैष्णव निश्चिन्त बने रहते हैं।

५- जैसे नन्हा अबोध शिशु माता पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार शरणागत चेतन स्वबल और परबल का अनुसंधान न कर भगवान भरोसे ही जीते हैं।

९२. वैष्णव में अभयता

१- सर्वलोक शरण्य भगवत की शरण में पहुँचकर वैष्णव प्रभु प्रतिज्ञा का स्मरण करता हुआ सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वावस्थाओं में अभय बना रहता है।

२- आचार्य की सर्व-समर्थशालिनी अनुकम्पा के बल से वैष्णव त्रिकाल अभयता से युक्त रहता है, क्योंकि सद्गुरु कृपा, नारायण के चक्र से, त्रम्बक-त्रिशूल से, इन्द्र के वज्र से और काल के दंड से भी मुक्त कराने वाली होती है।

३- वैष्णव को भजन करते-करते निश्चिन्तता वरण कर लेती है, अस्तु वह प्रत्येक समय निश्चिन्त रहकर भय में भी भगवान को देखने वाला होता है।

४- वैष्णव अपनी देह या देह सम्बन्धी वस्तु के विनाश से आत्मा की किंचित भी हानि नहीं देखता, इसलिए स्वरूपज्ञ वैष्णव सर्वदा अभय बना रहता है।

५- वैष्णव अहंकार-ममकार से रहित कामना हीन होता है। अपने भगवान को आत्म-समर्पण कर देने के पश्चात उसे भयभीत होने का अवकाश कहाँ ?

---o---

९३. वैष्णव में महान विश्वास

१- भगवान शरणागत चेतन की रक्षा अवश्य-अवश्य बिना कुछ सोचे-विचारे करते हैं, चाहे जीव कितने भी घोर-महाघोर अपराध करके आया हो और आगे भी करे, परन्तु प्रभु उसका त्याग कभी नहीं करते। अन्ततोगत्वा अपने उस भोग्य को निष्पाप निर्मल और विशुद्ध बनाकर उसका विनियोग करते हैं, इस प्रकार वैष्णवों का भगवान के प्रति महान विश्वास होता है।

२- शास्त्र, गुरु, संत और श्री हरि की वाणी में वैष्णवों का विश्वास प्रत्यक्ष के समान रहता है, जिससे वे परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

३- वैष्णव विश्वास की मूर्ति होते हैं, अस्तु वे अपने विश्वास के बल द्वारा पाषाण से भी परमात्मा को प्रगट कर लेते हैं। अनेकानेक इतिहास इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

४- वैष्णवों का अविचल विश्वास होता है कि भगवान अपने भक्त की रुचि एवं प्रतिज्ञा अपनी इच्छा और प्रण को विसर्जन कर पूर्ण करते हैं, अस्तु इस प्रतीति के परम सामर्थ्य-शक्ति से ही भक्त कभी-कभी आश्चर्य जनक भवितव्यता को भी भस्म कर देने में समर्थ पाये गये हैं।

५- वैष्णवों का यह विश्वास होता है कि भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम की महोदार महिमा जो श्रुति-शास्त्रों में गाई गई है, वह किंचित मात्र है, शाखा चन्द्र न्याय से जीव को उस ओर ले जाने के लिये संकेत मात्र है, वास्तव में भगवान अनन्त, अगम्य और अनिवर्च हैं, इसलिये उनके उक्त चारों तत्वों की महिमा भी अनंत, अगम्य और अकथ है। यही कारण है, कि वैष्णव इन तत्वों का आश्रय ग्रहण करके परम पुरुषार्थ की प्राप्ति से कृत-कृत्य हो जाते हैं।

---o---

९४. वैष्णव की सिद्धाई

१- वैष्णव स्वयं सिद्धाई के चमत्कार का न तो प्रदर्शन करता है न मन से सिद्ध बनने का प्रयत्न करता है, किन्तु कारण वश कभी-कभी अपने आप प्रभु प्रेरणा से प्रगट होकर वैष्णव की सिद्धाई बड़े-बड़े सिद्धों को आश्चर्य में डाल देने वाली हो जाती है, जैसे प्रह्लाद जी में अनेकानेक चमत्कारों का दर्शन हुआ।

२- वैष्णव के पाँव पलोटने के लिये सिद्धियाँ खड़ी रहती हैं, किन्तु विष्णु-भक्त उन्हें ताकते तक नहीं, परन्तु भागवतों को अकिंचन समझकर जब कोई उनका अपमान करके पराभव करना चाहता है, तब हरि-इच्छा से भक्त के बिना चाहे व बिना कहे उसकी सिद्धाई प्रगट होती है। सिद्ध योगी गोरखनाथ, कबीर स्वामी से हार मानकर शिर नत प्रणाम करते हुये वैष्णवत्व की प्रशंसा किये बिना नहीं रहे।

३- वैष्णव के सामने असुरों और देवताओं के माया की भी शक्ति कुंठित हो जाती है। वैष्णवीय सिद्धता सर्व श्रेष्ठ सिद्ध होती है।

४- वैष्णव की सिद्धता पंच भूतों को भी आधीन करके उनको स्वरूप से विपरीत कर देने में समर्थ होती है।

५- वैष्णव की सिद्धता का इससे बढ़कर और प्रमाण क्या हो सकता है, कि पूर्णतम-परब्रह्म-परमात्मा अपने सहित अपना सर्वस्व सर्मपण करके अपने भक्त के ऋणी बने रहते हैं।

---०---

९५. वैष्णव में असंगपन

१- शरीर के सम्बन्धी (स्त्री-पुत्रादि) जनों के बीच में रहते हुए भी ममत्वासक्ति न होने के कारण वैष्णव असंग ही बने रहते हैं, जैसे जल में कमल पत्र। यद्यपि कुटुम्बियों के सुख-दु:खादि में स्वयं सुखी-दुखी होने का स्वांग करते हैं।

२- देहेन्द्रिय मन और बुद्धि से चेतन सर्वथा विलक्षण पृथक तत्व है, इस प्रकार के बोध से उत्पन्न हुये ज्ञान के कारण स्व-देहादि में वैष्णव की ममत्वासक्ति नहीं होती, अस्तु शरीर-समुच्चय के किये हुये कर्मों के फलाशा और कर्तृत्वाभिमान का परित्याग किये हुये वे असंग ही बने रहते हैं।

३- वैष्णव की सम्पूर्ण चेष्टायें अहंता-ममता और आसक्ति से रहित भगवदर्थ होती है। भगवान के पास पहुँचकर कर्म फल विलीन हो जाते हैं, लौटकर भक्त के सम्मुख नहीं आते, अस्तु वे असंग ही बने रहते हैं।

४- परमात्मा की नाट्यशाला में जैसा पाठ मिल गया वैसा सुचारु रूप से पाठ प्रभु प्रसन्नता के लिये भगवदभ्यर्चना समझकर वैष्णव कर देते हैं। उन्हें और कुछ न चाहिए, अस्तु स्वसुख की कामना न होने से वे असंग ही बने रहते हैं।

५- मायातीत वैष्णव संसार को नश्वर और नरकप्रद समझते हैं, जिससे जगत के ऊपर उठ जाते हैं। त्रिगुणातीत होने से वे सब कुछ करते हुये, कुछ नहीं करते, उन्हें करने न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता। उनके ज्ञान में न वे कर्ता हैं न कारयिता, परमात्मा की अध्यक्षता से गुण ही गुण बर्तते हैं, अस्तु वे स्वाभाविक असंग ही बने रहते हैं।

१६. वैष्णव में कर्मादि साधन उपायतया अस्वीकृत

१- वैष्णव जो कुछ भी कर्म करते हैं, वह भगवत कैंकर्य रूप से करते हैं, उनका अनुष्ठान उपायतया नहीं होता।

२- वैष्णव ज्ञान का अर्जन स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप बोध के लिये करते हैं, उपाय रूप से ज्ञान का ग्रहण नहीं होता।

३- वैष्णव भगवद्भक्ति का विनियोग भगवत् कैंकर्य में रुचि विवर्धन हेतु तथा कल्याण गुणगणानुभव के रसानुभव के लिये करते हैं।

४- इतरोपाय-

(१) अधिकृताधिकार हैं अर्थात उपनयनाधिकारादि की अपेक्षा रखते हैं।

(२) शास्त्र विधि के परतन्त्र हैं।

(३) प्रारब्ध-प्रनाश के अनन्तर फल देते हैं।

(४) अंतिम स्मृति की अपेक्षा रखते हैं। (मरणकाल में मन चंचल हो जाय तो दुर्दशा हो जाती है, जैसे जड़ भरत जी का दृष्टान्त।)

(५) अचेतन हैं अर्थात् कर्मादि उपाय स्वयं जड़ हैं, अस्तु स्वयं स्वतन्त्र रूप से फल नहीं दे सकते। भगवान ही उन उपायों द्वारा फल देते हैं।

(६) साध्य हैं अर्थात् किसी साधक के साधन करने पर सिद्ध होते हैं, स्वयं सिद्ध नहीं है।

(७) कर्म-ज्ञान-भक्ति के समुच्चय की अपेक्षा है।

(८) फल प्राप्ति के लिये ईश्वर की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् स्वतन्त्रोपाय नहीं हैं।

(९) स्वरूप विरोधी हैं अर्थात् परतन्त्र स्वरूप चेतन के स्वरूप के विपरीत हैं।

(१०) प्राप्य के असदृश हैं अर्थात् फल बहुत बड़ा, उपाय बहुत क्षुद्र है, इसलिये वैष्णव इतरोपाय स्वीकार नहीं करते।

५- वैष्णव, अकिंचनत्व, अनन्य गतित्व और आर्तित्व दशा में स्थित

होकर अन्योपाय ग्रहण करने से प्राप्य की प्राप्ति में अपने को असमर्थ पाते हैं, अस्तु उपायान्तर का परित्याग किये बिना नहीं रहते।

---o---

९७. वैष्णव की कृतज्ञता

१- हे प्रभु आपने अपनी अहैतुक कृपा से दास को मानव शरीर में प्रवेश कराकर अद्वेषी बनाया और भगवद्भागवताभिमुख्य प्रदान किया। आप ही ने असीम अनुग्रह से सदाचार्य की प्राप्ति कराकर रहस्यत्रयादि तत्वों का बोध कराया पुन: अपने में प्रीति उत्पन्न की अन्यथा मैं अज्ञानी जड़वत बना रहता। आपके कृपा की जय हो, जय हो।

२- हे प्रभो मैंने आर्तिपूर्ण प्रपत्ति नहीं की, अस्तु आपके कृपा का बिल्कुल अधिकारी न था। फिर भी आपने अपनी अकारण अनुकम्पा से अपना दास मानकर अपना अनुभव करा दिया। आपकी सदा जय हो।

३- हे करुणा वरुणालय ! दास तो अन्य प्रयोजन वाला था, अस्तु अनन्य प्रयोजन हुये बिना आपके प्रेम भाजन बनने की कभी संभावना ही न थी, किन्तु आप अपनी अहेतुकी दया दृष्टि से देखकर दास को अनन्य प्रयोजन वाला बनाकर अपना बना लिये। दीनानाथ की जय हो, जय हो।

४- हे महा महिम्न, क्षमा सिन्धु ! दास आपको अपमानित कर अनन्तानन्त अक्षम्य और असह्य अपराध करता हुआ अनन्तकाल से चला आ रहा था, अस्तु अहंकार वश जान-बूझकर पापाचरण करने से यह क्षमा पाने का अधिकारी नहीं वरन् दण्ड का ही पात्र था, किन्तु आपने समस्त अपराधों को भुलाकर दास को वैष्णवों की पंक्ति में बिठा दिया। धन्य है आपके परमोदार्य स्वभाव की, पतित-पावन पाप प्रणाशन की सदा जय हो।

५- हे आरत-हरण-शरण-सुखदायक ! दास अविद्यादि पंच क्लेशों का शिकार बना रहा, कभी सुख की नींद नहीं सोया। धन्य ! भवरोग के वैद्य ! प्रतीत हो रहा है, कि आपकी कृपा के स्पर्श से सर्वथा निरोग होकर आप के कैंकर्य करने की योग्यता प्राप्त करूँगा। आपका सदा मंगल हो।

नोट :- वैष्णव इसी प्रकार श्री जी से, संत और गुरु से कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

१८. वैष्णव का तेज

१- वैष्णव का तेज क्षण-क्षण विवर्धमान होता हुआ उसके अपकारी को असह्य हो जाता है, जैसे अम्बरीष के तेज के सामने दुर्वासा मुनि का तेज फीका पड़ गया और वे वैष्णव तेज को न सह सके किन्तु सज्जन अर्थात् साधु-सेवी उसी प्रकार उसी तेज को प्रियकर समझकर सेवन करते हैं, जैसे शारदीय चन्द्रमा के तेज को शरदातप से तप्त जीव समूह।

२- वैष्णव के हृदयाङ्गण में परम तेज स्वरूप परमात्मा प्रकाशते हैं, अस्तु, भक्त में भगवान का ही परम प्रकाश प्रकाशता है। जिस समय जैसी आवश्यकता हुई, उस समय वैसा तेज भक्त के बिना चाहे और बिना जाने लोगों को अनुभव में आता है।

३- वैष्णव-तेज से बढ़कर कोई तेज नहीं। ब्रह्मास्त्र भी जिसके सामने शक्तिहीन हो जाता है।

४- वैष्णव-तेज से ही भगवान का हृदय द्रवीभूत होकर प्रभु को धराधाम में अवतरित होने की प्रेरणा देता है।

५- वैष्णव-तेज के प्रकाश से ही वैष्णव, वैष्णव-पद अर्थात् परमधाम को प्राप्त करते हैं।

---o---

१९. वैष्णव में जन्म-जन्म वैष्णवत्व की चाह

१- स्वरूपज्ञ वैष्णव को वर्तमान प्राकृत शरीर त्याग पूर्वक पुन: दूसरे स्थूल देह के अप्राप्ति में अतिशयेच्छा तथा अप्राकृत शरीर-लाभ का लोभ, यह दोनों देहाभिमान (शरीरासक्ति) के समान हैं, क्योंकि इससे शेषत्व और पारतंत्ररूप चेतन के स्वरूप की हानि होती है। भगवान जब जहाँ जैसे, जिस योनि में चाहें रक्खें, चेतन को इसी में आनन्द का अनुभव करना चाहिये, अस्तु, वैष्णव केवल वैष्णवत्व की कामना करते हैं।

२- वैष्णवों का भगवदनुराग अपेक्षा शून्य होता है, अस्तु वैष्णव स्वार्थ और परमार्थ-पदार्थ की कामना नहीं करते। उन्हें तो केवल वैष्णवत्व चाहिए।

३- वैष्णव त्रिगुणातीत होते हैं। उन्हें यह इच्छा नहीं रहती कि अमुक-अमुक गुणों का विकास हमारे में हो क्योंकि यह कामना अहंकार की सहयोगिनी है, चेतन को स्वस्वरूप में स्थित नहीं रहने देती, इसलिये वैष्णव केवल वैष्णवत्व को चाहते हैं।

४- वैष्णव लौकिक-पारलौकिक भोग को भगवान के देने पर भी स्वीकार नहीं करते। पंच मुक्तियों की भी उपेक्षा कर देते हैं क्योंकि वे स्वयं भगवान के भोग्य हैं। अत्र-तत्र के भोग की लिप्सा उन्हें स्वरूप-भ्रष्ट कर देती है, अस्तु वैष्णव, वैष्णवत्व को ही वरण करते हैं।

५- वैष्णव विधि-हर के समान शक्ति एवं योग-सिद्धियों की समस्त शक्ति से समन्वित होकर चमत्कार पूर्ण गौरवशाली बनकर लोक-परलोक में नहीं रहना चाहते क्योंकि इससे उनके दास धर्मानुकूल स्वरूप की स्थिरता असंभव है, अस्तु वे वैष्णवत्व को ही जन्म-जन्म चाहते हैं।

---०---

१००. स्थिति भेद से वैष्णव के पाँच भेद

१- असाधक वैष्णव :- सद्गुरु की शरण लेने पर भी प्रमाद और आलस से आवृत होकर लक्ष्य और साधन में रति न रखता हुआ साधन-निष्ठ नहीं होता।

२- साधक वैष्णव :- सदाचार्य की शुश्रूषा - पारायण होकर भागवद्धर्मानुसार रहनि अपनाकर रहस्य त्रयार्थ के अनुसंधान एवं जप-स्वाध्याय में लगा रहता है। लक्ष्य प्राप्त करने की त्वरा उसे वरण किये रहती है, अस्तु वह स्वस्वरुप और परस्वरुप की अनुकुल स्थिति में रमण करने को आतुर होता है।

३- एकान्तिक वैष्णव :- स्वरूपज्ञ होकर स्वस्वरूप में स्थित रहता है, मंत्र द्वय के अनुसंधान में परमपद सदृश सुख का अनुभव करता है। भगवान के नाम-रूप-लीला-धाम के चिन्तन में उसे रस आने लगता है, अस्तु प्रभु के स्मरण में लगा रहता है, रागानुगा भक्ति उसका वरण कर लेती है।

४- परमैकान्तिक वैष्णव :- प्रपन्नतया आर्तिदशा को प्राप्त हो जाता है। प्रभु का विस्मरण क्षण मात्र होने से परम व्याकुलता का अनुभव करता है, प्रेम के सात्विक भाव उसके शरीर में उदय और अस्त होते रहते

हैं। प्रभु-प्राप्ति की अत्यंत त्वरा में देह-विसर्जन करना चाहता है, क्योंकि प्रियतम की प्राप्ति में प्रारब्ध (देह) को प्रतिबंधक समझता है। संसार का बीज नष्ट हो जाने पर जगत भगवतमय दृष्टिगोचर होने से वह वृक्षों से लिपट-लिपट कर रोने लगता है किन्तु प्रभु विरहाग्नि बढ़ती ही जाती है।

५- विष्णु से अभिन्न विशुद्ध वैष्णव :- विरह की दसों दशाओं में निमग्न रहकर प्रेम का साक्षात् विशुद्ध विग्रह हो जाता है। भाव-महाभाव-मोहन-मादन-उन्मादन की स्थितियाँ उसका वरण किये रहती हैं, वह कभी प्रभु के योग का और कभी वियोग का अनुभव तो करता है किन्तु प्राय: प्रेम-प्रेमी-प्रेमास्पद की त्रिपुटी को भंग किये रहता है, वह पराभक्ति सम्पन्न हो जाता है।

नोट :- बाह्यभ्यंतर, सात्विक, राजस, तामस तथा कायिक, वाचिक, मानसिक प्रपत्ति करने के प्रकार से वैष्णव शास्त्रों में वैष्णव के कई भेद कहे गये हैं।

---o---

१०१. वैष्णव में शास्त्रानुमोदित सदाचार

१- वैष्णव का शयन, जागरण, शौचादि क्रिया, स्नान क्रिया, सूर्योपस्थान, संध्या-तर्पण, स्वाध्याय-यज्ञादि क्रिया, भोजन-प्रसाद-सेवन, सम्मिलन, संभाषण, उठना बैठना, चलना, जमुहाना, हँसना, देना, लेना, सेवा-सत्कार इत्यादि शिष्टाचार शास्त्रानुकूल सबको प्रिय लगने वाला पाप रहित होता है।

२- वैष्णव सदाचार को आध्यात्मिकोन्नति रूपी नव मंजिले मकान में चढ़ने के लिए प्रथम सोपान मानता है।

३- शिष्टाचार से मन में पवित्रता का पोषण होता है, जिससे वैष्णव, भगवत मार्ग में आरूढ़ होकर इष्ट की प्राप्ति करने में समर्थ बनता है, अस्तु वैष्णव सदाचार से संयुक्त रहता है।

४- शिष्टाचार से भगवत कैंकर्य करने की पात्रता के दर्शन होते हैं, इसलिए सदाचार वैष्णवों से सेवित है।

५- सदाचार से लोक कल्याण होता है, वैष्णव के उन आचरणों को देख-देखकर साधारण जन अनाचार एवं दुराचार से बच जाते हैं।

१०२ . वैष्णव सबको सुखद व प्रियकर

१- वैष्णव, भगवान को प्राण प्रिय होता है क्योंकि वह उनकी अनुकूलता को अवधारण कर अनन्य प्रयोजन हो गया है।

२- वैष्णव देवताओं को बहुत प्रिय होता है, क्योंकि उसके सदुपदेश के द्वारा संसार के जन यज्ञादि धर्मों का अनुष्ठान करने लगते हैं, जिससे सुरगणों को परम तृप्ति होती है।

३- वैष्णव से पितृगण परम प्रसन्न होकर नृत्य करने लगते हैं क्योंकि निजकुल में उत्पन्न होने वाले वैष्णव से उनका उद्धार हो जाता है।

४- वैष्णव से वसुन्धरा भागयवती होकर परमानन्द का अनुभव करती है, क्योंकि उनके पदन्यास से पग-पग में तीर्थ हो जाते हैं। भगवान भी भक्त के पीछे पीछे चलकर तथा भक्तों के लिये अवतार धारण कर भू-भार हरण करते हैं।

५- वैष्णव से पशु-पक्षी, चेतन-जड़ सब प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि वह अहिंसक बनकर सब भूतों का हित चाहने वाला सुहृद है। उसके हृदय में उसका कोई शत्रु नहीं है, सबमें वह अपने भगवान का दर्शन करने वाला है।

---०---

१०३. वैष्णव धर्म की सनातनता

१- जब से सनातन विष्णु (व्यापक ब्रह्म) है, तब से वैष्णव-जगत का वैष्णव धर्म है। विष्णु सनातन और सच्चिदानन्द है, इसलिये वैष्णव धर्म भी सनातन और सच्चिदानंद है, क्योंकि धर्म धर्मी से पृथक तत्व नही होता।

२- जब से विष्णु का सनातन, सच्चिदानन्द वैष्णव धाम है, तब से सनातन सच्चिदानंद वैष्णव धर्म है क्योंकि धर्म धर्मी के अनुरूप होता है।

३- जब से विष्णु भगवान का सनातन और सच्चिदानन्द सगुण साकार स्वरूप है, तब से सच्चिदानंद सनातन वैष्णव धर्म है, क्योंकि धर्म धर्मी का आश्रय नहीं छोड़ता।

४- जब से विष्णु भगवान की सच्चिदानन्दमयी सनातनी लीला है तब से सच्चिदानंद सनातन वैष्णव धर्म है क्योंकि धर्म सर्वदा धर्मी के साथ रहता है।

५- जब से सच्चिदानंद सनातन भगवान का शेषभूत दास धर्म वाला जीव है, तब से उसके स्वरूपानुरूप-परम-पद-प्रबोधक एवं प्रदायक सनातन वैष्णव धर्म है, क्योंकि धर्मी के तत्व धर्म में विद्यमान रहते हैं।

नोट :- वैष्णव धर्म सनातन है, इसलिए यह अनन्त काल से चला आ रहा है, चल रहा है, भविष्य में भी चलता रहेगा। वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास और स्मृति इसके साक्षी हैं। हाँ समय एवं भगवदिच्छा की प्रबलता से उनके लीला हेतु कभी ह्रस्वता को, कभी विस्तार को प्राप्त होता रहता है।

---o---

१०४. वैष्णव में अकार त्रय सम्पन्नता

१- वैष्णव के अहं के सर्वथा समाप्त होते ही अनन्य शेषत्व, विषय भोग में रुचि न रहते ही अनन्य भोगत्व और अपने तथा पर के बल का अभाव होते ही अनन्य रक्षकत्व स्वयं व सहज आ जाता है, अस्तु, भगवद्भक्त अकार त्रय की विभूति वाला बनकर स्वरूपानुकूल आचरण से भगवान के मुखोल्लास को विवर्धन करता है।

२- चेतन का सहज स्वरूप अकार त्रय के आकार वाला होता है अस्तु स्वरूपज्ञ वैष्णव स्वाभाविक ही अकार त्रय सम्पन्न होता है।

३- वैष्णव प्रभु के परमार्थ स्वरूप का दर्शन पाते ही अपने सहज स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, अस्तु वह त्रय अकार के आकार का हो जाता है।

४- सद्गुरु की कृपा से अकार त्रय के बोध होने पर ही प्रभु की अनुकूलता प्राप्त होगी, ऐसा दृढ़ निश्चयी वैष्णव सदाचार्य कि शुश्रूषा-परायणता से उनकी अनुकम्पा प्राप्त कर अकार त्रय से युक्त हो जाता है।

५- परम पुरुषार्थ के प्राप्ति की कामना जो आर्तित्व की आहों से परिमार्जित है, वैष्णव को अकार त्रय सम्पन्न कर देती है।

१०५. वैष्णव में अर्थ पंचक तत्वज्ञता

१- वैष्णव आचार्य मुख से सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास और स्मृति के सार सिद्धांत भूत अर्थ पंचक तत्व को श्रवण कर उसका विशेषज्ञ हो जाता है।

२- वैष्णव गुरु मुख से रहस्य त्रयार्थ को श्रवण करके अर्थ पंचक तत्व का ज्ञानी बन जाता है।

३- भगवान अहेतुक कृपा करके जब वैष्णव को बुद्धि योग प्रदान करते हैं, ठीक उसी समय वह अर्थ पंचक तत्व को भली-भाँति समझ जाता है।

४- संतों के सत्संग सेवन से सहज ही में वैष्णव के हृदय में अर्थ पंचक तत्व का विस्तृत बोध हो जाता है।

५- मूल मंत्र का अनवरत जप करते-करते जापक के हृदय में सारे तत्वों के ज्ञान का प्रकाश होता है, अस्तु वैष्णव से अर्थ पंचक तत्व का अर्थात् स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपाय स्वरूप, फलस्वरूप और विरोधी स्वरूप का ज्ञान अप्रकाशित नहीं रह सकता।

---o---

१०६. वैष्णव में तत्व त्रय का ज्ञान

१- सद्गुरु -सूर्य के उदय हो जाने पर शिष्य के अन्त:करण के अज्ञानांधकार की निवृत्ति नि:संदेह हो जाती है, अस्तु उसके सूक्ष्म बुद्धि के दर्पण में ईश्वर और जीव का स्वरुप चमकने लगता है। स्वस्वरुप और परस्वरुप के दर्शन की विरोधी माया जो भगवद्दर्शन के पहले अन्धकार में लीन कर रक्खी थी, उसका भी ज्ञान, अदर्शन और दर्शन के मध्यकाल में हो जाता है, इसलिये तीनों तत्वों का पूर्ण बोध वैष्णव के चित्त-भीति पर चित्रित हो जाता है।

२- भगवान अपने अनन्य शरणापन्न भक्त से छिपे नहीं रह सकते। वे अपने निजी जनों को पूर्णतया अपना बोध करा करके ही कृत कृत्य होते हैं, इसलिये वैष्णव तत्वत्रय का ज्ञानी हो जाता है ।

३- तीनों तत्वों का बोध कराने वाले वेदों, शास्त्रों और पुराणों का अभ्यास भी वैष्णव को तत्व त्रय के स्वरूप को समझाने में सहायक होता है।

४- संतों, हरि-भक्तों और बहुश्रुतों का समागम, सेवन और अनुभव भी तत्व त्रय का ज्ञान कराने में समर्थ होता है।

५- मूल मंत्र के सादर निरंतर दीर्घकाल के जप से भी वैष्णव को तत्वत्रय का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

---o---

१०७. वैष्णव में अनन्य प्रयोजनत्व

१- वैष्णव को भगवान और उनके शेषत्व के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं रहता। वे शेषत्व के बिना अपने देह, प्राण, अत्यधिक आनन्द और आत्मा तथा आत्म सम्बन्धी उभय विभूति, मान-प्रतिष्ठा इत्यादि की किंचित अभिलाषा नहीं करते। भगवत कैंकर्य ही उनका सर्वस्व है, जिसे त्यागकर अर्ध क्षण के लिये भी यदि चित्त कहीं चला जाय, तो वे अपने को नहीं सहते।

२- वैष्णव अकार त्रय विभूति से संयुक्त होते हैं, इसलिये स्वरूपानुकूल उनका अनन्य प्रयोजनत्व स्वाभाविक है।

३- वैष्णव अखंड भजन करते-करते भजनीय भगवान में सर्वभावेन देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा को विलीन करके तदाकार बन जाते हैं। उनके चित्त और बुद्धि में अन्य का अस्तित्व ही नहीं रहता, इसीलिये वे अनन्य प्रयोजन वाले होते हैं।

४- प्रेमातिशयता के कारण वैष्णवों का चित्त अपने प्रेमास्पद प्रभु का चिन्तन प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक समय किया करता है। क्षणभर के अन्य चिंतन में वे असहिष्णुता का अनुभव करते हैं, अतएव मन और बुद्धि में अन्य अस्तित्व के आवरण का सर्वथा अभाव हो जाता है, अस्तु प्रपन्न वैष्णव सहज ही अनन्य प्रयोजन वाले होते हैं।

५- वैष्णवों को जब अपने सहज स्वरूप का परिज्ञान सद्गुरु के द्वारा हो जाता है, तो वे स्वस्वरूप के विरोधी अन्य प्रयोजन को कभी किंचित रूप से स्मरण नहीं करते, क्योंकि उनकी स्थिति अपने सहज स्वरूप में स्थाई हो गई है।

१०८. वैष्णव में उपाय विषयक निष्ठा

१- वैष्णव जन भगवत् प्राप्ति का उपाय, भगवान की अहैतुकी कृपा को ही स्वीकार करते हैं। प्रभु को उपायतया स्वीकार करना शास्त्र, भगवान और सदाचार्यानुमोदित है, अस्तु वे प्रभु को उपाय रूप में वरण करने के नैष्ठिक होते हैं।

२- वैष्णव की निष्ठा उपाय विषय में श्री विदेहराज नन्दिनीजू और द्रुपद-कुमारी द्रौपदीजू के समान होती है, जैसे श्री जनक राज तनया श्री सीता जू ने अपनी रक्षा के लिये अपनी शक्ति सामर्थ्य का (जिससे रावणादि राक्षस भस्म किये जा सकते थे) परित्याग कर केवल श्री रघुनन्दनजू के कृपा का ही अवलम्बन ग्रहण किया था, इसी प्रकार द्रौपदीजी ने अपनी लज्जा का परित्याग करके सम्पुट पाणि होकर अपनी रक्षा के लिये भगवान द्वारकाधीश से प्रार्थना की थी।

३- वैष्णव भगवती भास्वती कृपा का समीक्षण प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक समय करते हुए, प्रभु प्रेम तथा प्रभु और प्रभु कैंकर्य प्राप्ति के लिये अहर्निशि कृपा देवी के पंथ में खड़े होकर कृपा की प्रतीक्षा कर-करके कालक्षेप किया करते हैं।

४- वैष्णव प्रभु की कृपा-सुधा से ही अपनी तुष्टि और पुष्टि समझते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वेद विहित साधनों को उपायतया स्वीकार नहीं करते, शरणागति मंत्र इसका साक्षात प्रमाण है।

५- रहस्यत्रयी विद्या की प्राप्ति सद्गुरु से कर लेने पर वैष्णव अपनी रक्षा के लिये तृण तोड़ने के बराबर भी उपाय नहीं करते। उनका दृढ़ निश्चय होता है, कि इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट की निवृत्ति प्रभु के कृपा से ही संभव और शक्य है, अपने या अन्य के बल से नहीं।

---०---

१०९. वैष्णव में उपेय विषयिनी निष्ठा

१- वैष्णव भगवान और उनके कैंकर्य की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ समझते हैं, जो प्रेमातिशयता से तत् सुख सुखी की भावना से भावित होकर किया जाता है। इस सहज सेवा की अप्राप्ति में वे अपनी देह और आत्मा को यथा स्थिति रखने में असहिष्णु होते हैं।

२- वैष्णव की उपेय निष्ठा भी लक्ष्मण कुमार, श्री जटायु और चिन्तयन्ती की तरह होती है। श्री लखन लाल जी ने श्री राम जी के कैंकर्य बिना मुहूर्त भी जीना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने प्रभु के जागते और सोते समय के सर्व प्रकार के कैंकर्य करने में ही सुखानुभूति प्रगट की है। श्री जटायु जी श्री राम जी के कैंकर्य-विमुख न हुये वरन् अपने प्राणों का बलिदान कर दिये। भगवान श्री कृष्ण के दर्शन-वियोग को न सहते हुये चिन्तयन्ती जी के आकुल-व्याकुल प्राण अपने आप प्रयाण कर गये।

३- वैष्णव प्रभु के सकल विधि कैंकर्य करने में निपुण होते हैं, यही उनका परम पद और पुरुषार्थ है। कैंकर्य के बिना उनके सहज स्वरूप की हानि होती है इसलिये वे कैंकर्य विहीन एक क्षण भी नहीं रह सकते।

४- प्रभु और उनके कैंकर्य करने के आस्वादानुभवी वैष्णव सेवा सुख के बिना उसी प्रकार अपनी आत्मा का उत्सर्ग कर देते हैं, जैसे जल के बिना मीन।

५- प्रभु कृपा से प्रभु कैंकर्य की अनुरक्ति पूर्ण प्राप्ति होती है, अस्तु उसके अभाव में वैष्णव का हृदय अपने अपराधों का अनुसंधान कर संतप्त हो उठता है। वे अपने को कृपा का अनधिकारी समझते हुए, प्रभु-कैंकर्य के वियोग में अपने प्राणों का विसर्जन कर देते हैं।

---o---

११०. वैष्णव में स्वस्वरूप निष्ठा

१- वैष्णव मूल मंत्रानुसार निश्चय किये गये स्वस्वरूप में सदा प्रतिष्ठित रहते हैं, क्योंकि वेद-पठित उक्त मंत्र चेतन के सहज स्वरूप का समर्थन करता है, जिसके प्रमाण में स्वयं भगवान का ''चरम श्लोक'' और गुरुदेव के सार-सिद्धान्त गर्भित 'मंत्र-द्वय' अर्थात् 'मंत्र रत्न' वाक्य है।

२- यह चेतन भगवान का सहज शेषभूत दास है, जिसकी सार्थकता भगवत-भोगोपयोग में है, सदा-सदा प्रभु की परतन्त्रता में रहने वाला सहज उनका रक्ष्य पदार्थ है, अस्तु अनन्य शेषत्व, अनन्य भोगत्व और अनन्य रक्षकत्व भाव से भावित वैष्णव अपने सहज स्वरूप में ही स्थित रहते हैं।

३- स्वरूपज्ञ वैष्णव "मै चेतन हूँ और यह जड़-प्रकृति, मुझ से सर्वथा हेय है" ऐसा स्वरूपाभिमान नहीं करते। वे जड़-चेतनात्मक जगत को प्रभु का शरीर समझते हैं, अस्तु अपना स्वरूप भगवत स्वरूप के भीतर मानते हैं, अर्थात अपना अलग अस्तित्व नहीं मानते।

४- स्वरूपज्ञ वैष्णव, देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान, उपेयाभिमान, कर्तृत्वाभिमान, कारयितृत्वाभिमान, ज्ञातृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान से रहित जड़वत व्यवहार दशा तथा अव्यवहार दशा में बने रहते हैं।

५-वैष्णव अहंकार व ममकार से विहीन होकर अंतरमुखी वृत्ति द्वारा आत्मस्थ होकर बहिर्मुख नहीं होते सदा सच्चिदानन्दमय बने रहते हैं।

---o---

१११. वैष्णव में पर-स्वरूप निष्ठा

१-भगवत स्वरूप ही परस्वरूप है। वेद-वर्णित बीज मंत्र भगवान को सर्वशेषी, सर्वभोक्ता और सर्वलोक शारण्य बतलाया है। अस्तु अपने आचार्य से इस मूल मंत्र को ग्रहण करके गुरु-वचनों में प्रीति-प्रतीति प्रसव करने वाली बुद्धि के वैष्णव का हृदय स्वाभाविक प्रभु को अपना सहज शेषी, भोक्ता और रक्षक स्वीकार कर लेता है।

२- प्रभु की प्रपत्ति स्वीकार करते ही वैष्णव शाश्वत परमानन्द का आस्वाद लेने लगता है, इसलिये उसका मन भगवन्निष्ठा से संयुक्त हो जाता है। करोड़ो विघ्नों के उपस्थित होने पर भी वह नैसर्गिक निष्ठा से पृथक नहीं होता।

३- भगवान के अनंत सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, सौष्ठव सौगन्ध और लावण्य लालित्यादि देह-संपत्तियों का उनके सच्चिदानन्दमय विग्रह के साथ में सदा एक रस नित नव-नव विवर्धमान होकर रहना, सद्गुरु एवं प्रेमी संतों से सुनते ही वैष्णव का चित्त सहज ही चितचोर से चुरा लिया जाता है, अस्तु वह पर-स्वरूप में निष्ठावान हो जाता है।

४- भगवान की भगवत्ता और उनके सौशील्य, सौलभ्य और वात्सल्यादि दिव्यातिदिव्य अनंत गुणों का किंचित अनुभव करते ही

वैष्णव का मन भाव विभोर होकर पर-स्वरूप में सहज ही निष्ठा करने वाला हो जाता है।

५- भगवान को सर्व समर्थ, काल, कर्म, स्वभाव, गुण- भक्षक, महान से महान निरतिशय समझकर एवं उनके जन्म कर्म की अमृतमयी, मनमोहनी, सुख स्वरूपिणी लीला को श्रवण कर वैष्णव सहज ही में उनमें अनुरक्त होकर पुन: अपने चित्त को अन्यत्र ले जाने में अशक्य होता है, अस्तु भगवद्भक्त स्वाभाविक ही भगवन्निष्ठा वाला होता है।

---o---

११२. वैष्णव में विरोधी स्वरूप का सर्वथा अभाव

१- वैष्णव जब मायापति भगवान की अनुकूलता अवधार्य औदार्यादरत्वता के साथ कैंकर्य परायण हो गया तो उसमें प्रतिकूलता अर्थात् विरोधी स्वरूप का निरोध हो जाना स्वाभाविक है।

२- वैष्णव के अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश पंच-क्लेश जिस समय क्षीण हो जाते हैं, उसी समय वह अपने सहज स्वरूप में स्थित हो जाता है। ममकारादि विरोधी वर्ग के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता।

३- सत्यसंध-शरणागत वत्सल भगवान स्वयं शरणागत चेतन के स्वरूप की रक्षा करते हुए उसके विरोधी स्वरूप का सर्वथा संहार कर देते हैं, अस्तु वैष्णव सहज ही विरोधिनी माया से ठगा नहीं जाता।

४- वैष्णव को जब सद्गुरु के द्वारा अर्थ पंचक तत्व का ज्ञान हो जाता है, तो वह 'मम' को साक्षात मृत्यु मानता है, अस्तु स्वस्वरूप विरोधी, अहंकार, ममकार का नाम मात्र स्मरण नहीं करता।

५- वैष्णव को जब अहंकार, ममकार, असत, आगन्तुक, दुखदाई एवं परमार्थ वस्तु विशेष से वंचित करने वाले प्रतीत होने लगते हैं, तो प्रभु कृपा का सहारा लेकर वह अपना पिण्ड इनसे छुड़ा लेता है, अर्थात् विरोधी वर्ग का निरोध हो जाता है।

---o---

११३. वैष्णव में विशुद्ध प्रपत्ति का विमर्श

१- भगवत-प्रवृत्ति-विरोधनी स्वप्रवृत्ति की निवृत्ति प्रवृत्ति ही प्रपत्ति के नाम से पुकारी जाती है अर्थात् निर्पेक्षोपाय भगवान चेतनों के उद्धार के लिये स्वयं कटिबद्ध होकर प्रयत्नशील हैं, किन्तु उनके हाथ को दूर हटाकर अपने बल से भवसागर तैरने को तैयार चेतन की प्रवृत्ति, प्रभु प्रवृत्ति की विरोधिनी है, अस्तु इस विपरीत स्वप्रवृत्ति से निवृत्त हो जाने की (अपने रक्षा का भार भगवान पर छोड़ देना) प्रवृत्ति ही प्रपत्ति है।

२- प्रपत्ति में उपाय बुद्धि गौण और औपचारिक है, यह केवल चेतन के अनुरूप अधिकार को व्यक्त करने वाली है, इसमें उपाय स्वयं भगवान हैं।

३- प्रपत्ति को उपायतया ग्रहण करने से फल समय, प्रभु की अपेक्षा होने के कारण, परतंत्र मानना पड़ेगा, अस्तु प्रपत्ति को परिशुद्ध कर स्वस्वरूपानुरूप भगवान को उपाय मानने से प्रपत्ति स्वतंत्र बनी रहती है, तभी इसको सिद्धोपाय के नाम से पुकारा जाता है अर्थात् अधिकारी को देखकर ही प्रभु अपने कृपा का पात्र बनाते हैं। मैंने शरणागति रूप उपाय किया है, इसलिये भगवत कृपा का पात्र बना, ऐसा अनुसंधान गलत, अन्योपाय के सदृश अहंकार से युक्त है।

४- प्रपत्ति को उपाय क्यों कहा गया, इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि रसोई घर में भोजन करते समय पहले का वेष ठीक और भोग्य है, परन्तु शयन कक्ष में भोगानुभव करते समय पहले का वेष त्याग देना चाहिए, अर्थात् वरण काल (आत्म समर्पण काल) में ग्रहीता के हाथ में जाने के लिये आत्म निवेदन उपाय हुआ, किन्तु कैंकर्य काल में वह स्वरूपानुरूप सिद्ध होता है। भोगानुभव समय में पत्नी के आत्म निवेदन को उपाय नहीं कह सकते, क्योंकि उसका प्रथम समर्पण (पाणि ग्रहण) रूप उपाय इसी पति रसानुभूति के लिये हुआ था, अस्तु आत्म समर्पण स्वरूपानुरूप है।

५- कर्म, ज्ञान, उपासना और अष्टाङ्ग योग के साधन में कुशल समर्थ होकर भी प्रपत्ति करना चेतन के स्वरूपानुकूल है अन्याश्रयों और अन्योपायों का परित्याग ही तो प्रपत्ति है। इस त्याग के उत्पन्न होते ही

परमात्मा रक्षक बनकर जीव के समस्त पापों और शोकों का सर्वनाश करके अभय पद प्रदान करता है।

---o---

११४. वैष्णव में भगवन्नाम निष्ठा

१- वैष्णव सद्गुरु से प्राप्त प्रभु-नाम को सतत स्मरण कर मन और वाणी का विषय बना लेता है, अर्थात् हरि नाम ही वाणी का आवश्यक आहार बन जाता है।

२- भगवान का नाम स्मरण करने में सुलभ और सब प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाला अचिन्त्य शक्ति से संयुक्त है, ऐसी प्रतीति होने पर नामानुरागी वैष्णव की नाम निष्ठा स्वाभाविक ही हो जाती है।

३- जब श्री भगवन्नाम का अभ्यास करते-करते अपने आप नामोच्चारण होने लगता है, तब नाम जापक वैष्णव कृतकृत्य हो जाता है, उसकी नाम निष्ठा लोगों को आश्चर्यान्वित कर देने वाली हो जाती है।

४- नैष्ठिक नामानुरागी जापक के रोम-रोम से श्री हरिनाम की झंकार, झंकरित होकर देश, काल, परिस्थिति और पदार्थ को पवित्र करने लगती है। अधिकारी सज्जन सुन-सुनकर वैष्णव भक्त को तीर्थीभूत समझते हुये स्वयं कृतार्थ हो जाते हैं।

५- श्री भगवत कृपा पात्राधिकारी सादर सस्नेह, पूर्ण आर्तियुक्त नाम जपने वाले वैष्णव के सर्वाङ्ग में श्री हरि नाम अङ्कित हो जाता है, उसे दर्शन कर महा-पातकी भी पवित्र को पवित्र करने वाले बन जाते हैं। धन्य है उसकी नाम निष्ठा को...........।

---o---

११५. वैष्णव में भगवद्रूप निष्ठा

१- बुद्धि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर जब परमात्म स्वरूप बुद्धि में चमकने लगता है, तब वैष्णव भगवान के परावर स्वरूप का एक बार दर्शन प्राप्त कर पुन: अदर्शन को नहीं प्राप्त होता, यही उसके निष्ठा का प्रमाण है, कि सारा का सारा दृष्य अदृष्य के उदर में संप्रविष्ट होकर कभी दृष्टिगोचर नहीं होता।

२- भगवान के नाम का सादर सप्रेम सुमिरण करते-करते भगवान का भुवन मोहन सुन्दर स्वरूप हृदय में आने लगता है, जिसका दर्शन करते ही वैष्णव सदा के लिए प्रभु के अतिरिक्त सब भूल जाता है। स्वप्न में भी अन्य किसी का अस्तित्व उनके मन में नहीं रहता।

३- परम प्रभु के चरण-कमलों की प्रीति जब पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाती है, तब तत्क्षण भक्त-परवश भगवान भक्त के आँखों के विषय बन जाते हैं। अहा ! रूपोपासक वैष्णव रूप-रस पीते हुए भी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता। धन्य है उसकी रूप निष्ठा।

४- भगवद्रस का रसिक वैष्णव, भगवान को अपना सगा सम्बन्धी समझकर सर्वदा उनके साथ-साथ रहता है तथा रूपासक्त चित्त से रूप-रस के परमैकान्तिक अनुभव का आस्वाद लेते हुए कभी विरत नहीं होता, क्योंकि रूप की मधुरिमा ही ऐसी होती है।

५- भगवान का भुवन मोहन सौन्दर्य-सार-माधुर्य महोदधि सौकुमार्य सुधा-सिन्धु, कोटि-कोटि कंदर्प-दर्प-दलनकारी शारदीय-शत-शत-चन्द्र-विजित-वरानन जब बड़े-बड़े ब्रह्म लीन वेदान्तियों के चित्त को चुराने वाला एवं सहज वैरागियों को रागी बनाने में समर्थ है, तो रूप रसिक वैष्णव भक्त की कथा क्या कही जाय। उसकी रूप निष्ठा वर्णनातीत है।

---o---

११६. वैष्णव में भगवल्लीला निष्ठा

१- भगवान की लीला महा-मोह-तिमिर के नाश करने के लिए तरुण तेज से युक्त तरुण-तरणि के समान है, अस्तु मोहान्धकार-प्रवेश के निरोध हेतु वैष्णव श्री हरि-चरित्र को निरन्तर कहते-सुनते हुए कथाहारी बन जाते हैं।

२- श्री हरि की कमनीय-कथा प्रभु-प्रेम-प्रवर्धिका एवं भावुक हृदय में नव-नव -भावों का उद्भव करने वाली है, इसीलिये प्रेमी वैष्णवों को माधव की दनुज विमोहनि ललित-ललित लीला प्राणों से भी प्रिय लगती है।

३- भगवान की लीला, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की जननी एवं अशेष दिव्य गुणों सहित परमानन्द की उत्पादिका है, अस्तु वैष्णव अपने श्रवण का विषय बनाकर हरिकथा का आधार सर्वदा लिये रहते हैं।

४- जप-तप, योग-यज्ञादि साधन तब तक करें जब तक भगवत-कथा में अनुरागोत्पन्न न हो। अनुरागादित्योदय होने पर वैष्णव भगवल्लीला को सर्व साधनों का साध्य समझकर अपने मन को उससे विलग करना असंभव और अशक्य समझते हैं।

५- भगवान के जन्म-कर्म और उनके दिव्य गुण ही ऐसे हैं, जो श्रवण मात्र से श्रवणवन्त को चरम सुख दायक सिद्ध होते हैं, जिसे ब्रह्मलीन जीवन्मुक्त मुनि, ब्रह्म ज्ञान का परिपक्व रस से ओत-प्रोत मधुरातिमधुर फल समझकर ध्यान से विरत होकर श्रवण पुट से पान किया करते हैं, जो विषयीजनों को भी प्रियकर होती है। भला वैष्णव, चन्द्रकीर्ति के चरित-चन्द्रिका से विनिसृत उस अमृत धारा का अनवरत पान क्यों न किया करें।

----0----

११७. वैष्णव में धरा धाम निष्ठा

१- भगवद्धाम, भक्त के भगवान की विक्रीड़न भूमि है। श्री हरि के चरण-चिह्नों से चिह्नित है, जहाँ भगवदीय गुणों का विकास भली-भाँति हुआ है। वहाँ आज भी उनके विहार स्थलों का दर्शन करते ही मोहादि-दोष दूर होते से देखे जाते हैं, प्रेमोद्दीपन करता हुआ चरित्रों का स्मरण अपने आप हो जाता है। भजनीय प्रभु का भजन भाव वृद्धिंगत होता है, अस्तु वैष्णवों में धाम निष्ठा यहाँ तक बढ़ जाती है, कि उन्हें धाम वियोग, इष्ट देव वियोग के समान ही दुखदाई प्रतीत होता है।

२- भगवान को धाम अत्यन्त प्रिय होता है। चेतन लाभ से लालायित होकर वहाँ वे निरन्तर अर्चावतार रूप में वास करके भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने का एक मात्र अपना व्यापार ही बना लिये हैं। इसलिए वैष्णवों का अपने भगवान के समीप उनके कैंकर्य परायण होकर रहना स्वाभाविक है।

३- श्री धाम श्रीमद्भागवतों की वासस्थली है, जहाँ निरन्तर श्री भगवदर्चा, भगवन्नाम, भगवत्कथा, कीर्तन, लीलाभिनय और अच्छे-अच्छे अनुभवी वैष्णवों का समागम एवं सतसंग-सुख का अदान-प्रदान हुआ करता है, अस्तु भगवद्भागवत के अनुभव आस्वाद के लिये वैष्णव धाम निष्ठ होते हैं।

४- भगवद्धाम, भगवद्रूप, सच्चिदानन्दमय होता है, लीलाधाम के नैष्ठिक चेतन को उस परात्पर धाम की प्राप्ति होती है, जहाँ से जीवों की पुनरावृत्ति नहीं होती, अस्तु वैष्णव निष्ठापूर्ण श्री धाम सेवन करते हैं।

५- भगवद्धाम में वैष्णवों का सहज प्रेम रहता है। उनको धाम के अतिरिक्त अन्य कहीं रहने की रुचि ही नहीं उत्पन्न होती, इसलिये निष्ठा उनके स्वभाव में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक उतरती जाती है।

---o---

११८. वैष्णव में साधनान्तरों का सर्वथा परित्याग

१- वैष्णव जब प्राप्तव्य वस्तु के अनुरूप प्रापक अर्थात् सिद्ध साधन स्वरूपा भगवान की शरणागति ग्रहण कर लिया, जिसमें प्रभु स्वयं उपाय हैं, तो उसे अन्य उपायों का अवलम्बन लेना भगवान और भगवान की कृपा पर अविश्वास करना है, इसलिये वैष्णव साधनान्तरों से दूर रहते हैं।

२- प्रपत्ति अपने से अतिरिक्त अन्य साधनों को नहीं सहती। वह कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति को उपायतया ग्रहण करने से स्वरूपानुरूप नहीं रह पाती, इसलिए प्रपत्ति-पथानुयायी वैष्णव अन्य साधनों का अवलम्बन नहीं लेते।

३- प्रपत्ति चेतन के स्वरूपानुकूल है। एक बार की हुई प्रपत्ति उत्तारक होती है। प्रपत्ता के प्राणान्त समय में अन्य योगों की तरह मन को ध्यान-धारणा में लय होने की अपेक्षा प्रपत्ति में नहीं हैं, क्योंकि शरणागत वत्स्ल भगवान शरणागत चेतन को अन्त समय में स्वयं स्मरण कर अपना अपुनरावर्ती धाम प्रदान करते हैं। प्रपत्ति करने वाले चेतन के ऐहिक और परमार्थिक योगक्षेम वहन करने के लिये स्वयं भगवान कटिबद्ध रहते हैं, अस्तु वैष्णव अन्य साधनों का सहारा मन से भी स्वीकार नहीं करते।

४- अन्य साधनों की सम्पन्नता अहंकार के सम्मिश्रण से होती है। वैष्णव अभिमान शून्य होते हैं, अस्तु जान बूझ कर वे विष से मिला हुआ अन्न अपने उपयोग में नहीं लाते।

५- वैष्णव, भगवान को ही उपाय और उपेय मानते हुए उनके द्वार पर पड़े रहते हैं, यदि कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति के अनुष्ठान उनमें देखे भी जाँय तो वे उपायतया नहीं वरन स्वभाव वश प्रभु प्रीत्यर्थ कैंकर्य रूप में उनका आगमन है।

---o---

११९. वैष्णव में देवतान्तरों का सर्वथा त्याग

१- वैष्णव लोग एक पतिव्रत धर्म परायणा नारी के समान अपने भगवान को ही अपना शेषी, भोक्ता और रक्षक समझते हैं, अस्तु अन्य देवालम्बन न करके वैष्णव शब्द को चरितार्थ करते हैं।

२- जैसे एक महाराजा की महारानी अन्य किसी के पास जाकर वस्त्रादि की याचना कर अपने और अपने पति के गौरव को नष्ट करती है, उसी प्रकार का दोष वैष्णव को अन्य देवाराधन से होता है। चित्त की चिन्ता को हरण करने वाली एवं सर्वकाम प्रदायिनी चिन्तामणि जिसके गृह में सुलभ हो और वह काँच के टुकड़े जहाँ-तहाँ कचरे के ढेरों से खोज-खोजकर एकत्रित करे तो क्या कोई उसे अच्छा कहेगा ?

३- यह चेतन परम प्रभु का सहज भोग्य पदार्थ है। भगवान के आरोगते समय उनके सामने से अन्न की थार हटा लेने के समान वैष्णव का अपने को अन्य देवाराधन में लगा देना है।

४- भगवान सर्वलोक शारण्य अर्थात सबके रक्षक हैं। अन्य देवता कदापि रक्षक नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वयं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं। वैष्णव को अन्य देवोपासना से उसी प्रकार का दोष होता है, जैसे कोई अपने कल्याण की कामना से महाराजा के पास न जाकर उसका अपमान करता हुआ उसी नरपति के द्वारा बन्द किये हुये कैदियों के समीप कैद खाने में जाय, अस्तु वैष्णव अन्य देवाराधन से सर्वदा पृथक रहते हैं।

५- भगवान के परमपद को प्राप्त करने वाला जो देव परमपद के तुल्य हो, उसी की आराधना या प्रपत्ति करनी चाहिये, अस्तु वैष्णव सभी देवी-देवताओं को उनके लोकों के सहित शास्त्रानुसार च्युत समझकर अच्युत पद पाने के लिये अच्युत भगवान की उपासना करते हैं। कहीं यज्ञादि में अन्याराधन देखा जाये तो वहाँ भगवान के अंग समझकर अंगी की प्रसन्नता के लिये है, रक्षक समझकर नहीं है। अपने घर आये हुये राजा के सत्कार के साथ उसके परिकरों का सम्मान करना राजा के आदर के लिये ही है।

---०---

१२०. वैष्णव वेदान्त में जीव की अनेकता और जीव ईश्वर नहीं बन सकता

१- जीव कभी किसी उपाय से ईश्वर नहीं हो सकता, यह वैष्णवों का वेदान्त-सिद्धान्त है। जीव अनन्त हैं, क्योंकि सभी जीवात्मा अपने कर्म के वैषम्य से भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुख का अनुभव करते हुये अनेकानेक लोकों में देखे जाते हैं। अगर जीव एक होता तो एक ही प्रकार के सुख-दुख सभी भूतों में प्रकाशित होते, इसी प्रकार जीव यदि ब्रह्म होता तो ब्रह्मानन्द ही में सदा मगन रहता हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान और अहंकार-ममकार के वशीभूत होकर अविद्या जनित क्लेशों का शिकार क्यों बनता।

२- जीव मायाधीन है, उसकी गति अगति हरि के हाथ है। स्वतन्त्रता पूर्ण स्वइच्छा से जब चाहे बिना साधन के, परम पद को प्राप्त हो जाय, कभी देखा सुना नहीं गया, इस लिए जीव ईश्वर नहीं है, यदि किसी जीव को वैष्णव पद की प्राप्ति हो गई तो एक होने के सम्बन्ध से सबको उसी पद में तुरन्त प्रवेश कर जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता, इसलिए सिद्ध है कि जीव अनेक हैं।

३- जीव अनादि, अणु, अल्पज्ञ, सच्चिदानन्द परमात्मा का सनातन अंश एवं शेष, भोग्य,रक्ष्य और परतन्त्र तत्व है। ईश्वर महान, सर्वज्ञ स्वयं सनातन अंशी एवं सर्व शेषी, सर्व भोक्ता, सर्व रक्षक और स्वतन्त्र तत्व है, इसलिये जीव त्रिकाल में भी कभी ईश्वर नहीं बन सकता। वेद शास्त्र में सर्व शारण्य, सर्व शेषी, सर्व भोक्ता और सर्व रक्षक भगवान को कहने से यह निश्चय होता है, कि जीव अनेक हैं,

यदि एक जीव होता, तो सर्व शब्द विशेषण में क्यों ग्रहण किया जाता।

४- जब-जब भूमि धर्म के अभाव से भाराक्रान्त होकर करुण-क्रन्दन करने लगती है, तब-तब सभी सुर-नर-मुनि समुदाय साथ-साथ भगवान की शरण लेकर ही कल्याण का दर्शन करते हैं। अगर सभी ब्रह्म अर्थात् ईश्वर होते तो स्वयं पृथ्वी का भार हरण कर सुखी हो जाते, परमात्मा को पुकारने की क्या आवश्यकता, अस्तु जीव ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। प्रभु स्वयं प्रतिज्ञा कर धराधाम में पधारते हैं, कि मैं दैवी संपत्ति से संयुक्त साधुओं की रक्षा के लिये आसुरी संपत्ति वालों का विनाश करूँगा, अस्तु भगवत वाक्यों से जीवों की अनेकता स्पष्ट है। अगर जीव अनेक न होते तो "साधूनाम" और "दुष्कृताम" का पाठ ही न पढ़ा जाता।

५- सद्गुरु-रुचि-प्रधान मंत्र-द्वय से सुस्पष्ट है, कि जीव कभी ईश्वर नहीं हो सकता। वह भगवान का सहज शेष और भोग्य है। भगवत कैंकर्य ही उसका परम पुरुषार्थ है। इसी प्रकार भगवत रुचि प्रधान चरम-मंत्र से यह निश्चय होता है, कि जीव अनेक हैं, और परम पद प्राप्त करके भी अनेक रहते हैं।

---o---

१२१. वैष्णव वेदान्त में ब्रह्म विवेचन

१- जिससे अनन्त ब्रह्माण्डों में सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है, जिसके शक्ति संचार से सम्पूर्ण भूत जीवन धारण करने में समर्थ होते हैं, प्रलय काल, जिसमें सर्वभूत प्रवेश कर जाते हैं, वही ब्रह्म है।

२- वैष्णव-वेदान्त का ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है। चित और अचित (जीव और प्रकृति) ब्रह्म के शरीर हैं। ब्रह्म शरीरी है, जिसका अपने शरीर से कभी पृथक न होना स्वाभाविक है, शरीर परिस्थिति के अनुसार सूक्ष्म-स्थूल भले हो जाय।

३- वैष्णव वेदान्त का ब्रह्म सच्चिदानन्द साकार विग्रहवान परम पद में अनन्त परिकरों से सेवित अपनी अचिन्त्याह्लादिनी श्री जी के संग प्रतिष्ठित है। मंत्र द्वय इसमें प्रमाण हैं, कि श्रीपति भगवान श्री जी से

कभी पृथक नहीं होते, जैसे अग्नि से दाहिका शक्ति और सूर्य से प्रभा किसी समय विलग नहीं रह सकती। इस मिथुन जोड़े को ही मनीषी ब्रह्म कहते हैं।

४- वैष्णव वेदान्त का ब्रह्म 'अखिल हेय प्रत्यनीक' अर्थात निकृष्ट गुणों से सर्वथा रहित होने के कारण निर्गुण विशेषण से तथा समस्त कल्याण गुण-गण-निलय होने के कारण सगुण विशेषण से संयुक्त हैं, अर्थात् सगुण और निर्गुण उस साकार ब्रह्म के विशेषण हैं, जो अपुनरावर्ती वैष्णव धाम में प्रतिष्ठित है।

५- वैष्णव-वेदान्त का ब्रह्म उत्पत्ति-पालन-प्रलय तथा चेतन को जड़ और जड़ को चैतन्य करने न करने तथा अन्यथा करने में सर्व समर्थ एवं काल-कर्म-स्वभाव, गुण, भक्षक है। अनन्त होने से देश, काल और वस्तु विशेष से परिछिन्न नहीं होता, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु नाम से कहा जाता है। वह जब-तब अपने भक्तों की रक्षा हेतु अवतार भी लेता है। प्रेम के परवश होकर प्रेमियों को प्रगट दर्शन भी देता है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार रूप में वही सबको सुलभ होता है। उसी के नाम रूप, लीला, धाम चारों तत्व जो सच्चिदानन्दमय हैं, प्रपन्नों को पराभक्ति एवं परम पद प्रदान करते हैं। उसी के दिव्यातिदिव्य सौलभ्यादि गुण तथा अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, सौष्ठव, लावण्य, लालित्य, मोहकत्व और वशीकरणत्वादि प्रेमी भक्तों के अनुभव के लिए होते हैं। महामहिम्न होते हुए भी वह सबका सुहृद और सखा है। वह प्रकाशमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, मंगलमय, अमृतमय, प्रेममय और रसमय है। वही विषय करण देव और जीव जगत का प्रकाश है। वही अकर्तृभाव में प्रतिष्ठित वेदवेद्य, माया पति, हृषीकेश, उत्प्रेरक, कर्ता और कारयिता है। यह सृष्टि उसी के महिमा की विकासिका एवं चिन्मयी लीला है।

---o---

१२२. वैष्णव वेदान्त में प्रकृति तत्व का विवेचन

१- मूल-प्रकृति उस महा महिम्न की शक्ति है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। त्रिगुणात्मिका होने से यही भगवान की अध्यक्षता से संसार का सृजन, संरक्षण और संहार करती है। प्रभु कृपा से ही जीव प्रकृति के पार होता है।

२- प्रकृति जड़ होने के कारण जीव को भोगोन्मुख करती हुई विपरीत ज्ञान तथा अहंकार-ममकार से बांधती है, स्वप्रयत्न में लगाती है, परन्तु प्रभु-कृपा प्राप्त पुरुष को अपने जड़ता की जानकारी करा करके परम पद प्राप्त कराने की सहायिका भी होती है।

३- जब से परब्रह्म परमात्मा है, तब से प्रकृति भी है, क्योंकि उस ब्रह्म की अपृथक विशेषण भूता है इसलिए ब्रह्म और जीव की भाँति यह भी अनादि है।

४- भगवान भी धराधाम में अवतार धारण कर इसी योगमाया से समावृत होकर नर लीला का निपुणता के साथ अनुकरण करते हैं किन्तु प्रभु इससे लिप्त नहीं होते, क्योंकि वे मायापति हैं और माया भी भगवान को अपने हाव-भाव से अपने में आसक्ति पैदा करके अपने आधीन करने में नित्य असमर्थ ही बनी रहती है, क्योंकि ब्रह्म एक रस स्व-स्वरूप में नित्य अविचलतया प्रतिष्ठित रहता है।

५- सिद्धान्ततया प्रकृति ब्रह्म से अपृथक कही गई है, जिस प्रकार से जीव। फिर भी शरीर और शरीरी का भेद है ही। तीनों गुणों की साम्यावस्था में प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है, इसलिए उसे अलिङ्ग और अव्यक्त भी कहा गया है। तीनों गुणों की विषमावस्था को प्राप्त कर वही महत्तत्व कहलाती है तथा लिङ्ग और व्यक्त नाम से भी पुकारी जाती है, जिसमें सारे संसार का दृश्य, बीज रूप से सन्निहित रहता है। उस महत्तत्व से सात्विक राजसिक और तामसिक त्रिधा अहंकार उत्पन्न होता है। सात्विक-अहंकार से मन, राजसिक से कर्मेन्द्रियाँ, सात्विक-राजसिक से ज्ञानेन्द्रियाँ, तामसिक से पाँच तन्मात्राएँ और पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत बनते हैं। प्रकृति वह तत्व है, जिससे अन्य तत्व बने। जो बनते हैं, वे विकृति कहलाते हैं, जिनसे अन्य तत्व नहीं बनते।

---o---

१२३. वैष्णव वेदान्त में जीव की प्रभु परतंत्रता

१- जैसे अन्नादि पदार्थ, अन्न-धनी के आधीन होते हैं, समय पर अपनी इच्छा से इच्छानुसार उसे विमल बनाकर पकवान के रूप में भोक्ता उपभोग करता है, उसी प्रकार चेतन भगवान का भोग्य पदार्थ है, जो स्वरूपत: प्रभु परतन्त्र है। अपनी इच्छा से वे जब और जैसे जीव को भोगना चाहते हैं, भोगते हैं, अस्तु, स्वरूपज्ञ वैष्णव अपने को ईश्वराधीन समझना, अधिकारी चेतन का अधिकार समझते हैं।

२- मूल मंत्र में चेतन को भगवान का शेषभूत सहज दास बतलाया गया है, उस निरूपण में स्वतंत्रता का सर्वथा निवारण किया गया है अर्थात् जीव स्वाभाविक प्रभु परतन्त्र है, इसलिए वैष्णव अपनी इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट निवृत्ति ईश्वराधीन समझते हैं।

३- रहस्यत्रय मंत्रों से यह निश्चयार्थ प्राप्त होता है, कि चेतन ईश्वर की रक्ष्य वस्तु है, जो रक्षक के आधीन हर समय रहती है, यदि प्रत्येक काल परतन्त्र न रहे, तो रक्ष्य-रक्षक सम्बन्ध की हानि होकर स्वरूप का नाश हो जायगा, अस्तु, वैष्णव सर्वदा प्रभु परतन्त्र रहकर स्वरूप में स्थित रहते हैं।

४- वैष्णव वेदान्त में जीव को अणु और ईश्वर को महान कहा गया है । जीव शरीर है, ब्रह्म शरीरी है, इस लिए चेतन का स्वरूप परमात्म स्वरूप के भीतर है, जैसे शरीर शरीरी के अधीन रहता है, उसी प्रकार जीव ईश्वर के अधीन रहता है, अस्तु, वैष्णव स्वतन्त्रता का किंचित अनुसंधान करना स्वरूप के विनाश का हेतु समझते हैं।

५- आचार्य वचनों में प्रतीति करने वाले वैष्णव अपना दासान्त नाम स्मरण कर सर्वदा प्रभु परतन्त्र बने रहते हैं, जिससे सद्गुरु प्रदत्त स्वस्वरूप की हानि न हो।

---०---

१२४. वैष्णवीय सिद्धांत से जीव का प्रकृति सम्बन्ध विवेचन

१- भागवतापचार और विषय प्रावण्य ही जीव का सम्बन्ध प्रकृति के साथ जोड़ने में मुख्य हेतु है, यह अर्थ, यत्र-तत्र वैष्णवीय ग्रंथों में देखा जा सकता है।

२- दृष्य के दर्शन की कामना दृष्टा को दृष्य में तदाकार किये रहती है।

३- अविद्या (विपरीत ज्ञान) प्रकृति से जीव को पृथक नहीं होने देती।

४- अहंकार के आधीन होकर भी उसे दुखद न समझने वाले जीव को भगवदिच्छानुसार प्राकृत-धाम में प्राकृत-लीला का पात्र बनना पड़ता है, इसलिये प्रकृति सम्बन्ध उसका बना रहता है।

५- भगवत शरणागति को ग्रहण न करने वाले जीव इस दुरत्यय माया से पार नहीं हो सकते, अस्तु उनका सम्बन्ध प्रकृति से बना रहता है।

---o---

१२५. वैष्णव में पुरुषकार के लिये श्री जी की अपेक्षा

१- संसार सागर में निमग्न जीवों के दुख से दुखी होकर 'श्री जी' बिना जीवों के कहे हुये भगवान से उनके उद्धारार्थ प्रार्थना करती हैं, इसलिए परमर्षियों ने प्रभु के प्राप्ति के लिये 'श्री जी' को पुरुषकार के लिये वरण करने का आदेश दिया है, जिसका अनुमोदन श्री हरि ने स्वयं किया है।

२- पुरुषकार में कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्व अपेक्षित है। यह तीनों उच्चतम स्थिति को प्राप्त 'श्री जी' के स्वभाव में परिलक्षित होते हैं, जिनका प्राकट्य श्री भगवती महादेवी सीता जू के चरित-चन्द्रिका में चारुतया हुआ है।

३- जीव के उद्धार विषयक विनयावली को सुनकर भी सर्व-लोक रक्षक भगवान यदि अनसुनी कर असावधानता प्रदर्शन करें तो श्री जी अपना अनंतानंत सौन्दर्य दिखाकर प्रभु को वश में करके जीव का कल्याण करती हैं, इसलिये प्रपन्न पुरुषकार करने के लिये श्री जी की अपेक्षा करते हैं।

४- श्री जी में अनन्तानन्त माताओं के प्यार का समुद्र सन्निहित है और वह है जीव रूपी स्वपुत्रों के पालन करने के लिये। उसी प्यार के सहारे जीव जगत जीता है, अस्तु पुत्र का धर्म होता है, कि प्रथम मातृ देवो भव। यही कारण है, कि वैष्णव भगवान के सामने सीधे जाने में असमर्थ है, 'श्री जी' को आगे कर अच्युतोन्मुख होते हैं।

५- माता, पिता से दस गुना गौरव देने योग्य है, इस शास्त्राज्ञा को जो स्वीकार नहीं करते, वे मातृघाती हैं। पिता से अपने इष्ट पूर्ति के लिये मातृ प्रेमातिशयता के कारण प्रथम माता से ही सुपुत्र प्रार्थना करते हैं। वैष्णवों का पुरुषकार करने के लिये 'श्री जी' को वरण करना उनके अनुरुप है।

---o---

१२६. वैष्णव शास्त्रों में ''श्री जी'' का सर्वोत्तम स्थान

१- श्री यह मधुराति मधुर परम पवित्र सुन्दर नाम 'श्रृंञ्' 'सेवायाम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। यों तो श्री शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ होती हैं, जो सभी सार्थक सत्यता से भरी हुई श्री जी की महिमा की द्योतक हैं, किन्तु यहाँ केवल 'श्रयते, श्रीयते' इन दो व्युत्पत्तियों से ही श्री जी की संक्षिप्त महिमा का विवेचन करना है। 'श्रयते' से आश्रयण करती है और 'श्रीयते' से आश्रयण की जाती है, यह दो अर्थ सिद्ध होते हैं। यह दोनों अर्थ सापेक्ष तो हैं, किन्तु श्री जी के स्वरूपानुकूल हैं। 'ईश्वरी सर्व भूतानाम्' इस वचनानुसार ये सबकी स्वामिनी हैं, अतएव नित्य, मुक्त, मुमुक्ष, कैवल्य और वद्ध, पंच विधि चेतनों द्वारा सेवित होती है, अर्थात् आश्रयण की जाती है। विष्णु-पत्नी होने से आप भगवान की सेवा करती हैं, अतएव स्वव्यतिरिक्त सकलात्माओं की स्वरूप-स्थिति इत्यादि उनके कटाक्षाधीन है तथा श्री जी की स्वरुप स्थिति भगवान के कटाक्षाधीन है यद्यपि दोनों का अविनाभावी नित्य सम्बन्ध है तद्यपि दोनों की लीलामय बहिरंग-स्वरुप-स्थिति देखकर व्युत्पत्त्यानुसार उक्त अर्थ आचार्यों द्वारा श्रुति शास्त्रानुमोदित सिद्ध किया गया है, इसलिए 'श्री जी' सर्वेश्वरी है अर्थात अपने को छोड़कर समस्त चेतनों की स्वामिनी है तथा भगवान की परतन्त्रा है। यही इनका स्वरुप है। इस प्रकार व्युत्पत्ति द्वय से श्री जी का चेतनों से सम्बन्ध तथा 'श्री जी' का भगवान से सम्बन्ध कहा गया है, इसका तात्पर्यार्थ पुरुषकार में दृष्टिगोचर होता है, या यों कहिये कि पुरुषकार करने के लिये चेतन का 'श्री जी' से सम्बन्ध नित्य है तथा पुरुषकार फल प्रद होने के लिये 'श्री जी' का भगवान से नित्य सम्बन्ध है।

२- भगवती श्री जी में ही पुरुषकार वैभव है, भगवान में नही,

क्योंकि आपका स्वरुप कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्वमय है, अतएव आपका पुरुषकार वैभव सुरक्षित है। भगवान में स्वातंत्र्य और नैरंकुश भाव-नित्य होने से ईश्वरत्व सुरक्षित है।

श्री शब्द की 'श्रुणोतीति श्री' 'श्रावयतीति श्री' ये दो व्युत्पत्तियाँ श्री जी के पुरुषकार वैभव को पूर्णतया प्रकाशित करती हैं। प्रथम का अर्थ होता है "सुनती हैं" अर्थात अभिमुख चेतन जब अपने अपराध तथा भगवान के स्वातन्त्र्य और निरंकुश शासन का स्मरण करता है, तो हाय-हाय कहकर पीछे हटने लगता है, यह सुनते ही 'श्री जी' आर्द्र चित्त होकर कहने लगती हैं, कि "मेरे प्यारे चेतन तुम में अभिमुख्य चाहिये सो तो है ही। अपराधों को क्षमा कराने के लिये मैं स्वयं भगवान से निवेदन करने को तैयार हूँ। वे अपने अंक में बिठाकर तुम्हारा अनुभव करेंगे, अस्तु, आओ आओ, हमारे समीप आओ"। दूसरी व्युत्पत्ति का अर्थ होता है, सुनाती हैं। 'श्री जी' के जीव को अपनाने के लिये कहने पर भगवान जब कहते हैं कि 'यह तो मेरा महा अपराधी है, ऐसा आप क्यों कहती हैं।' तब 'श्री जी' पुन: कहती हैं कि आपके सौशील्य, सौलभ्य, वात्सल्य, क्षमा, दया, कृपा, करुणा और औदार्यादि अनन्तानन्त गुण कहाँ काम आयेंगे, उनका विनियोग तो इन्हीं अभिमुखी चेतनों के ग्रहण में होना चाहिये अन्यथा महारण्य के पुष्पों के समान ये दिव्यातिदिव्य गुण वृथा ही जायेंगे आपके भाग्य से यह चेतन आज आ गया है, जो आपका प्रिय से प्रिय परम भोग्य है अन्यथा इसकी अभिमुख्यता असम्भव ही थी। प्रभु यदि इतना कहने पर स्वीकार कर लिए तो ठीक है नहीं तो अपने रूप सौन्दर्योदारता से भगवान को वश में करके चेतन को सहज ही प्रभु का प्यारा बना देती हैं, वे अपना आनन्द विवर्धन करने वाले प्रिय भोग्य को ग्रहण कर अनुभव करने लगते हैं, अस्तु, इन दो व्युत्पत्तियों से श्री जी का पुरुषकारत्व सुस्पष्ट है।

३- प्रपत्ता के प्रपत्ति करने के समय प्रपतव्य (भगवान) से पुरुषकार करने के कारण श्री जी को भगवान से छोटी तथा एक तत्व (शरीर शरीरी) होने के कारण समान एवं सौलभ्य, कृपा और सौन्दर्य में भगवान से अधिक होने के कारण बड़ी कहते हैं। वास्तव में जो श्री जी है, सो भगवान हैं, जो भगवान है वह श्री जी हैं। लीला रसास्वाद विवर्धन हेतु तथा जीव के कल्याण के लिये एक ब्रह्म द्विधारूप होकर

कार्य-वैषम्यता के कारण उक्त प्रकार से कहा गया है।

४- 'श्री जी' में जैसे पुरुषकारत्व है, उपायत्व नहीं, वैसे ही भगवान में उपायत्व है, किन्तु पुरुषकारत्व नहीं। विचार करने पर दोनों में दोनों विद्यमान है, क्योंकि यह युगल जोड़ी नाम मात्र को दो है, तत्वत: एक है।

५- 'श्री जी' भगवान की आत्मा एवं उनसे अभिन्न संवित, संधिनी और आह्लादिनी त्रिधा रूप अचिन्त्य, अप्रमेय अनादि शक्ति हैं, जैसे भास्कर भगवान से उनकी अभिन्न प्रभा है, वैसे ही भगवान से भगवती 'श्री जी' हैं। इन्हीं 'श्री जी' के भ्रू-विलास से जगत के सृजन, संरक्षण और संहार की लीला हुआ करती है, यही सबको धारण, पोषण करने वाली हैं, इनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता। विष्णु-वल्लभा होने से यह सर्वेश्वरी हैं। 'श्री' - पतित्व पद को पाकर ही महा महिम्न भगवान की अनन्त, अकथ और अचल महिमा है। 'श्री जी' के बिना भगवान ऐसे है, जैसे शक्ति के बिना शक्तिवान। भगवान के बिना 'श्री जी' ऐसी हैं, जैसे शक्तिवान के बिना शक्ति, अर्थात इन दोनों का अविनाभावी सम्बन्ध है दोनों गिरा-अर्थ और जल-बीचि के समान कहने के दो, किन्तु वास्तव में एक तत्व हैं। 'श्री जी' के महिमा की इयत्ता स्वयं 'श्री जी' और श्री हरि भगवान को भी अनन्त होने से अलब्ध है, फिर भी 'श्री जी' के सर्वज्ञता में न्यूनता नहीं आती।

----o----

१२७. वैष्णव शास्त्र में भगवान का सर्वोपम स्थान

१- श्री, यश, ज्ञान, वैराग्य, बल और तेज नामक षट भगों (ऐश्वर्यों) से पूर्णातिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा को भगवान कहते हैं। अनन्त, अचिन्त्य, अगम्य और अवर्णनीय 'श्री' आपसे कभी पृथक नहीं होती, जैसे इक्षु-रस से उसकी मधुर मिठास, या यों कहा जाय कि भगवान श्रीमय हैं। श्री-पति-श्रीनिवास प्रभु विशेष्य के विशेषण हैं। श्री जी सदा आपके हृदय का आलिंगन करती रहती हैं। 'श्री वत्स' का चिह्न इस विषय में साक्षी है। चन्द्रकीर्ति भगवत-चन्द्र में राहु का आक्रमण नहीं होता, वह कलंक रहित पूर्ण रूप से सदा एक रस उदित बना रहता है,

उसमें अस्त का अदर्शन त्रैकालिक सत्य और स्वाभाविक है। विपक्षी मेघाडम्बरों से कभी और किसी ने आच्छादित होते नहीं देखा। जिसमें चराचर जीवौषधि को पुष्ट बनाने हेतु अमृत का निरंतर स्राव होता रहता है, जिसकी शीतल समुज्वल सुखद किरणों के सामने अज्ञानान्धकार का दर्शन दुर्लभ बना रहता है। वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण स्मृति और आप्त पुरुष इस विषय के प्रमाण हैं। भगवान के निर्मल अखंड यश को गा-गाकर भक्त भव से पार हो जाते हैं। भक्तों के लिये भगवत्-यश उपायोपेय है। उनके रमने का रमणीय स्थान है।

भगवान का ज्ञान अखण्ड और अनन्त है। वे स्वयं ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता हैं, उनके अतिरिक्त उनको कोई नहीं जानता। वे अनन्तांनन्त कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों के अनन्तानन्त-प्राणियों, पदार्थों और परिस्थितियों के भूत, भविष्य और वर्तमान के सर्व प्रकार के सर्वज्ञानों का ज्ञान एक साथ बिना साधन के अपने में, अपने द्वारा, अपने ही, अपने अत्यन्त निकट वर्तमान के अल्पक्षण में सहज स्वाभाविक रखते हैं। नित्य स्वस्वरूप में एक रस स्थित रहने वाले एक भगवान ही अखण्ड ज्ञानी हैं। भगवान अपने महामहिम्नमयी भगवत्ता से भी सहज वैराग्यवान हैं। संसार के सृजन, संरक्षण और संहार के कार्य में उदासीन बने हुए एक रस स्वस्वरूप में स्थित रहते हैं। सम्पूर्ण कल्याण-गुण-गण-निलय एवं सर्वशेषी, सर्व-भोक्ता, सर्व-रक्षक होते हुये भी श्री पति भगवान अलिप्त ही बने रहते हैं। उन्हें कोई भी भोग्य अपने प्रभाव से प्रभावित नहीं कर सकते अर्थात् आसक्ति नहीं उत्पन्न कर सकते।

भगवान अमल, अनंत और अखंड तेज के सहज स्वरूप हैं, उन्हीं के प्रकाश से विषय करण, सुर, जीवमय चराचर संसार प्रकाशित है अर्थात् जगत प्रकाश्य है और प्रभु प्रकाशक हैं। प्रभु अप्रमेय बल वाले हैं, अस्तु वे करने, न करने, अन्यथा करने में सर्व समर्थ हैं। वे मायापति, उरप्रेरक, हृषीकेश हरि, काल, कर्म, स्वभाव, गुण भक्षक हैं। उद्भव, पालन, प्रलय की लीला उनके भृकुटि-विलास से होती रहती है। स्वबल से ही सर्वेश्वर भगवान परम स्वतन्त्र एवं निरंकुश सबके शासक और ईश्वरों के भी ईश्वर हैं।

२- भगवान सगुण, साकार, सविशेष, परम सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु, माधुर्य-महोदधि, सौकुमार्य-सदन, सौष्ठव-सम्पन्न, लावण्यानंत लालित्व, मोहकत्व और वशीकरणत्वादि वैभवों से युक्त सच्चिदानन्द विग्रह वाले हैं। निर्गुण, निराकार, निर्विशेषादि वर्णन का आशय, प्राकृत गुण, आकार और स्थूलादि से रहित अर्थ में है।

३- चेतन के किसी प्रकार संकल्प करने के पूर्व भगवान के हृदय में छ: प्रकार के संकल्प उदय होते हैं। इन छ: संकल्पों के बिना चेतन कुछ विचार कर ही नहीं सकता, वे ये हैं :-

(१) कर्तृत्व (२) कारयितृत्व (३) उदासीनत्व (४) अनुमन्तृत्व (५) सहकारित्व (६) फल प्रदत्व।

अर्थात् चेतन के संकल्प को पहले स्वयं करना, पीछे चेतन में उत्पन्न करना। उस संकल्प को चेतन के कर्मानुसार उत्पन्न करना। संकल्प को दूर करने की शक्ति होते हुए भी उसे दूर न करना। इस चेतन का ईश्वर के सहाय बिना किसी कार्य में प्रवृत्त या निवृत्त होने की सामर्थ्य न रखना, यह सब चेतन के कर्मों के फलानुरूप होना।

४- भगवान निर्पेक्षोपाय स्वरूप हैं, स्वयं जीव को परम पद देने के लिए आतुर रहते हैं। वे पुरुषकार की भी अपेक्षा नहीं रखते किन्तु श्री जी वात्सल्यभाव परिपूर्ण अनन्तानंत माताओं के प्यार से संयुक्त जननीपन के सहज स्वभाव से परम पिता भगवान से अधिक आतुर होकर उनके चेतनोद्धार करने से पहले जीव को अपनाने की प्रार्थना करने लगती हैं, जो उनके स्वरूपानुकूल है।

५- भगवान अपने को प्राप्त हुये चेतन को 'श्री जी' के समान ही अनुभव करने योग्य मानते हैं, अस्तु श्री-रस के सदृश्य, चेतन-रस का आस्वाद लेते हुए भी अतृप्त से बने रहते हैं।

आपके सृष्टि रचने और अवतार लेने का प्रयोजन एक मात्र जीव-लाभ के लिये ही है, एवं आपका परम परत्व, परम सौन्दर्य और सर्व सौलभ्य त्रय पर्व भी चेतन प्राप्ति के काम में आने के लिए ही है।

आपकी महिम्नता के विषय में शेष शारदा और शंभु के मुख से भी करोड़ों कल्पों तक जो कुछ भी कहा जायगा वह अधूरा ही रहेगा, क्योंकि

आप अनन्त हैं। आप स्वयं अपना परिज्ञान रखते हुए भी, अपने नाम, रूप, लीला और धाम के महिमा का ओर-छोर नहीं पाते, किन्तु आप श्री के सर्वज्ञता में न्यूनता का दर्शन नहीं होता।

---o---

१२८. वैष्णव दर्शन में आचार्य का सर्वोत्तम स्थान

१- आचार्यवान पुरुष ही परम तत्व के ज्ञान में तथा उसके दर्शन में और उसी में प्रविष्ट होने में समर्थ हो सकता है।

२- भगवान ही (पूर्णतम परब्रह्म) अपनी इच्छा से अपने को (चेतन को) अपनाने की आतुरता से अपना ज्ञान कराने के लिए आचार्य का स्वरूप धारण करते हैं।

३- अनेक जन्मों के स्वाध्यायादि तपश्चर्या से प्रसन्न होकर चेतन को दर्शन देने के लिये सर्वेश्वर भगवान नरावतार लेकर आचार्य रूप से सुलभ होते हैं।

४- आचार्य, वेद-वर्णित 'तत्वमस्यादि' महा वाक्यों के लक्ष्य हैं। वे आकाश से अधिक अवकाश वाले, महान, निर्मल प्रकाश स्वरूप, त्रिगुणातीत ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय संज्ञा से संयुक्त तथा सम्पूर्ण त्रिपुटिकाओं से परे हैं। वे जीव और ईश्वर दोनों का उपकार करते हैं ।

५- आचार्य पद इतना सर्वोत्तम और श्लाघनीय तथा स्पृहणीय है, कि जिसकी परम पद प्रतिष्ठित भगवान भी केवल स्पृहा ही नहीं करते स्वयं आचार्यत्व कर उसका अनुभव करते देखे गये हैं, आचार्य परम्परा इस विषय में प्रमाण है।

नोट : सदाचार्य से सम्बन्धित चेतनों के परम पद प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है, चाहे वे अनुष्ठानी हों या अननुष्ठानी, क्योंकि भगवान आचार्य कृत्य स्मरण कर ही प्रसन्न हो जाते हैं।

१२९. वैष्णव दर्शन में भागवतों का सर्वोच्च स्थान

१-भगवान और भगवद्भक्तों में सदा भेद का अभाव है।

२- भागवताराधन से भगवान चरम तृप्ति का अनुभव करते हैं, आप श्री को केवल अपनी सेवा असन्तोषप्रद एवं रोष को उत्पन्न करने

वाली होती है। भागवतों का अपचार तो भगवान को असह्य ही हो जाता है।

३- जिस चेतन को भागवत जन 'हमारे हो' कह देते हैं, उसे भगवान बिना विचार किए अपनाकर अपना पद एवं परम पुरुषार्थ स्वरूप कैंकर्य प्रदान करते हैं। जिसे भक्त नहीं अपनाते उसे भगवान भूलकर भी नहीं स्वीकार करते।

४- भागवज्जन गुरु-ज्ञान को विवर्धन करने वाले एवं भागवती-वार्ता-रूपी-हितकर-दुग्ध पिलाकर माता के समान चेतन रूपी पुत्र को पुष्ट करने वाले होते हैं।

५- वेदाम्भोधि से भगवत-कथामृत निकालकर जन समूह को उसकी सुलभता प्रदान करने वाले भागवत गण ही होते हैं। यदि भक्त न होते तो भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम का विस्तार कौन करता।

नोट :- भगवान के अनुभव के समान भागवतों का अनुभव भी परमानन्दमय होता है।

---o---

१३०. वैष्णवत्व प्राप्ति में पाँच के पाँच प्रकार के कृत्य

१- आचार्यानुराग पूर्ण आचार्य शुश्रुषा तथा उनमें कृतज्ञता, उपाय में (भगवान में) अटल विश्वास यह अधिकारी (चेतन) का कार्य है।

२- अज्ञात-ज्ञापन (अविदित तात्विक बातों को विदित करना) तथा भगवान में प्रीति विवर्धन के उपायों को करते रहना, यह आचार्य-कार्य है।

३- अपराधों को क्षमा करना तथा कैंकर्य वृद्धि करना पुरुषकार का कार्य है।

४- विरोधि-निवृत्ति तथा फल (कैंकर्य) की प्राप्ति कराना उपाय कृत्य है।

५- आचार्य और पुरुषकार तथा उपायोपेय के विषय में श्रद्धा,

विश्वास और प्रीति उत्पन्न कर गुरु ज्ञान का विवर्धन करते रहना भागवतों का कार्य है।

नोट :- अधिकारी चेतन जब निश्चिन्त होकर अपने कार्य करने में सस्नेह तल्लीन हो जाता है, तो शेष तीनों के कार्य की पूर्णता में विलम्ब नहीं होता।

---०---

१३१. वैष्णवीय दर्शन में पाँच के पाँच स्वरूप

१- आत्मा : विषय है, अर्थात भोग्य पदार्थ।

२- ईश्वर : विषयी है, अर्थात सर्व भोक्ता है।

३- आचार्य : विषय (चेतन) के शुद्ध करने वाले हैं।

४- श्री जी : आत्मा के भगवदनुभव में वृद्धि करने वाली हैं।

५- श्री वैष्णव : विषयानुभव में सहायक हैं।

---०---

१३२. विष्णु स्वरूप वैष्णव धाम (परमपद) प्राप्त वैष्णव की परम पुरुषार्थ प्राप्ति दशा

१- परम पद (भगवद्धाम को) भगवान के अकारण कृपा के द्वारा प्राप्त कर वैष्णव कृतकृत्य हो जाता है। युगल जोड़ी (भगवती श्री जी सहित भगवान) का दर्शन निर्निमेष करता हुआ अहमन्नम्, त्वमन्नाद: पुकार - पुकार कर प्रेम विभोर युगल विभूतियों के पादपद्मों में लोट जाता है। तुरन्त भगवान उसे उठाकर कौस्तुभमणि के सदृश्य गले से लगा लेते हैं, तदनन्तर अनन्त वात्सल्य-रस के स्रोत से आश्रित जन को प्लावित कर अपने अनन्त प्यार को प्रदान करते हुये अपना निजी स्नेह-भाजन बनाकर स्वकैंकर्यार्हि विग्रह परिग्रह प्रदान कर देते हैं।

२- अपना सर्वस्व अर्पण करने वाले वैष्णव को भगवान भी अपना सर्वस्व प्रदान कर देते हैं। भक्त, भगवती भास्वती पूर्ण कृपा को प्राप्त कर आनन्दमय, रसमय, प्रेममय, प्रभुमय, प्रकाशमय, विज्ञानमय, मंगलमय, अमृतमय स्वरूप में स्थित हो जाता है।

३- आश्रित जन के आनन्द से भगवान को आनन्दित देख-देखकर मंगलानुशासन करता हुआ वैष्णव अत्यधिक आनन्द का अनुभव करने लगता है, तब भगवान भक्त को परमानन्दित देखकर अनंतानन्द में विभोर हो जाते हैं। भक्त और भगवान के आनन्द का क्रम इसी प्रकार क्षण-क्षण वर्धमान होता रहता है।

४- तत् सुख सुखी दास भूत वैष्णव, भगवत कृपा से सकल विधि कैंकर्य करने की योग्यता को प्राप्त कर (जिसे परम पुरुषार्थ कहते हैं) श्री जी सहित भगवान का भोग्य अपने को समझता हुआ सेवा परायण हो जाता है। जिस रूप से, जिस काल, जिस रस का, जैसा आस्वाद प्रभु लेना चाहते हैं, तत् क्षण, उस रूप से, उस रस का वैसा आनन्द देने में वह सहज समर्थ होता है। कभी शय्या, कभी आभूषण, कभी पुष्पहार, कभी पक्षी, कभी दास-दासी, कभी सखा-सखी इत्यादि इत्यादि। प्रभु रुख को देखकर उनकी उपभोग वस्तु बन जाता है, पर सच्चिदानन्दत्व सहज साथ में रहता है।

५- प्रेम से ओत-प्रोत प्रेमी, सजातियों से मिलकर प्रेमास्पद के साथ उन्हीं की अध्यक्षता में उन्हीं के सुख के लिये अनवरत लीला करते रहते हैं। उस रस विवर्धनी लीला में करोड़ों कल्पों के बीतने पर भी वर्तमान क्षण ही बना रहता है। भूत, भविष्य का वहाँ अभाव है। वहाँ न दिन है न रात, न सूर्य है न चन्द्रमा और न अग्नि न, षटोर्मियाँ वह एकरस परम प्रकाशमय, परम शीतल, सच्चिदानंदमयी लीला भूमि, लीला निकुंजों एवं लीला सामग्रियों और लीला परिकरों के सहित रसिक जन-मन-मोहनी, रसमय भव्य-भावों से भावित दिव्यातिदिव्य, दिव्य दृष्टि से दर्शन करने योग्य है।

---०---

१३३. वैष्णवीय परम पद सोपान

१-निर्हेतुक भगवत कृपा कटाक्षपात :- अनादि पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ कर्म के प्रवाह से देव, तिर्यक, मनुष्य और स्थावर शरीरों में प्रवेश करके भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक, अतल वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल

नामक चतुर्दश भुवनों में सदा संचार करते हुये जीव की दयनीय दुर्दशा को देखकर दयासिन्धु का हृदय द्रवीभूत होकर अपने को प्राप्त कराने के लिये इस जीव पर प्रथम निर्हेतुक कृपा कटाक्ष करते हैं, जिसके कारण चेतन से कुछ अज्ञात सुकृत बन जाते हैं।

२- **अज्ञात सुकृत :-** अज्ञात सुकृत को ग्रहण करके परम दयालु भगवान जीव के देव, तिर्यक और स्थावर तीन प्रकार के शरीरों को दूर करके मनुष्य शरीर में प्रवेश कराकर मन, वाणी, शरीर तीनों करण से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में मानसिक, कायिक और वाचिक तीन प्रकार के शुभ कर्मों का सम्बन्ध जब कराते हैं तब चेतन में अद्वेष भाव जाग्रत होता है।

३- **अद्वेष भाव :-** अद्वेष भाव के उत्पन्न होने पर आस्तिक भाव उदय हो जाता है, जिससे चेतन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों तत्वों की मान्यता स्वीकार करके भगवद्भागवताभिमुख्य ग्रहण कर लेता है। अब तक अनन्त काल से द्वेषी बना हुआ प्रभु को पीठ देकर स्वर्गादि कर्म-फलों को ही परम पुरुषार्थ समझता था।

४- **भगवद्भागवत की अभिमुख्यता :-** भगवद्भागवत की अभिमुख्यता अपनाने से संतों के सत्कार और उनके सत्संग में तन-मन-धन लगने लगता है। श्री हरि-गुण श्रवण करने से रति उत्पन्न होने लगती है, समय का भी सदुपयोग होने से व्यर्थ काल के हानि से चेतन बच जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप त्याज्योपादेय विभाग के परिज्ञान की रुचि उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् सत्संग से संग्रहणीय और असंग्रहणीय तत्व का बोध हो जाता है। सर्वदेव नमस्कृत, सर्वेश्वर, शक्ति त्रय के प्रिय पति भगवान सबके आत्मा हैं। देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित हैं क्योंकि वे सबमें व्याप्त सबके निमित्त, उपादान और सहकारी कारण हैं। अपने सौहार्द्र से जीव के तीन विरोधी, स्वस्वातंत्र्य, अन्य शेषत्व और देहात्माभिमान को दूर करके चेतन में आनुषाङ्गिक, प्रासंगिक और याद्दृच्छिक तीन सुकृतों का योग करते हैं और त्रिलोक के भोग पदार्थों से इसकी रुचि हटाकर आगे की कक्षाओं में इस प्रकार प्रवेश कराते हैं, जैसे वात्सल्य भरी माता अपने नन्हे-मुन्ने बच्चे की अंगुली पकड़कर धीरे-धीरे गन्तव्य स्थान पर ले जाती है।

५- **त्याज्योपादेय विभाग :-** त्याज्योपादेय विभाग ज्ञान से स्व-स्वतंत्रता, अन्यदासता और देहाभिमान तथा इनसे उत्पन्न कर्म व उनके फल, चेतन के अनुरूप न होने से त्याज्य है एवं भगवत पारतंत्र्य, भगवद्दासता, भगवद्भोग्यता स्वरूपानुकूल होने से उपादेय है। चित्त में बैठते ही सत् संभाषण होने लगता है।

६- **सत्-संभाषण :-** सत् संभाषण अर्थात सत्य, प्रिय, परहित सनी, युक्तिपूर्ण आवश्यक वाणी का विनियोग एवं भगवान के नाम, गुण, महिमा व जन्म, कर्म का कीर्तन। दोनों प्रकार की वाक् विशेषता प्राकट्य के पश्चात् सदाचार्य समाश्रयण की तीव्रतर इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

७- **सदाचार्य समाश्रयण :-** सदाचार्य समाश्रयण होने पर आचार्य अज्ञापित अर्थों का अर्थात् सत् और असत् तत्व का विवेचन् कर तत्व त्रय का ज्ञान रहस्य त्रयार्थज्ञान, अर्थ-पंचक तत्व का बोध एवं भगवत सम्बन्धादि दृढ़ाकर चेतन को तदनुष्ठान में लगा देते हैं, तब तो उसे त्याज्योपादेय का विनिश्चय हो जाता है। प्रथम तो जानकारी मात्र हुई थी, विनिश्चय नहीं हुआ था।

८- **त्याज्योपादेय विनिश्चय :-** त्याज्योपादेय विनिश्चय होते ही चेतन, प्रभु प्रतिकूलता का सर्वथा परित्याग कर अनुकूलता को ग्रहण कर लेता है, स्वस्वरूप और परस्वरूप के अनुकूल अनुवर्तन करते ही प्राप्यान्तर वैराग्य और परम प्राप्य में अभिनिवेष उत्पन्न हो जाता है।

९- **प्राप्यान्तर वैराग्य और परम प्राप्याभिनिवेष :-** प्राप्यान्तर वैराग्य और परम प्राप्याभिनिवेष चेतन में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष से विरति (श्रुत और दृष्ट पदार्थ से वितृष्णता) उत्पन्न कर भगवच्छेशत्वानुकूल उनके कैंकर्य में परम प्रीति प्रादुर्भूत करते हैं, तत्पश्चात उक्त दोनों की मूल भूता सिद्धोपाय स्वरूपा प्रभु की निर्भरता अर्थात् परगत-स्वीकृति चेतन में आ जाती है।

१०- **सिद्धोपाय स्वीकार :-** सिद्धोपाय स्वीकार होते ही प्रपत्ति का दोष दूर हो जाता है अर्थात् शरणागति चेतन के अनुरूप अधिकार बताने वाली है, उपायतया उसका ग्रहण नहीं होता, उपायोपेय भगवान हैं, ऐसा ज्ञान दृढ़ हो जाता है, अस्तु, जीव भगवत कृपा को ही उपाय

स्वरूप में स्वीकार करता है। स्वीकार करते ही अकिंचनत्व, अनन्य गतित्व और आर्तित्व दशायें उपस्थित होकर अध्यवसाय पूर्वक प्रभु प्राप्ति में त्वरा उत्पन्न कर देती हैं।

११- **भगवत प्राप्ति की त्वरा :-** भगवत् प्राप्ति की त्वरा में इसके पाप और पुण्य सभी जल जाते हैं, क्योंकि विरहाग्नि में कर्म बीज का भस्मीभूत हो जाना स्वाभाविक है। विरह की दसों दशायें जीव का वरण कर लेती हैं, शरीर छूट जाने के लिये बार-बार प्रभु से प्रार्थना करता है। अत्यंत आर्ति के कारण प्राण छटपटाने लगते हैं, जैसे जल से निकाल देने पर मछली के प्राण। तब यह "अहंस्मरामि" कहने वाले भगवान के स्मृति का विषय बन जाता है।

१२- **अहं स्मरामि कहने वाले भगवान के स्मृति का विषय :-** अहं स्मरामि कहने वाले भगवान के स्मृति का विषय जब यह जीव बन जाता है, तब भूत-सूक्ष्म शरीर का परिष्वङ्ग हो जाता है।

१३- **भूत-सूक्ष्म शरीर परिष्वङ्ग :-** भूत-सूक्ष्म शरीर परिष्वङ्ग का अर्थ है, सूक्ष्म शरीर के भावों का प्रभाव जो भूत शरीर में प्रगट होता था, वह भाव भूत देह में दृष्टिगोचर न होकर केवल सूक्ष्म शरीर में सन्निहित रहना अर्थात् दो जगह के भावों का एक जगह हो जाना तत्पश्चात आत्मा का परमात्म संसर्ग होता है।

१४- **आत्म-परमात्म संसर्ग :-** आत्म-परमात्म संसर्ग माने जीव और ईश का सहज स्नेह प्रत्यक्ष प्रगट हो जाना। दोनों सजातीय हैं, एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते, अस्तु जीव उसके यहाँ उसी के पथ से उसी के साथ इस शरीर से निर्गमन करने की तैयारी करता है, तत्काल भगवान का हार्दानुग्रह प्रगट होता है।

१५- **भगवदीय हार्दानुग्रह :-** भगवदीय हार्दानुग्रह से मार्ग विशेष में प्रकाश हो जाता है, अर्थात जब जीव उत्क्रमण करने को चाहता है, तब ईश्वर अपने अनादि सखा पर हार्दिक अनुग्रह करके सुषुम्ना नाड़ी (जिसे मार्ग विशेष के नाम से कहा गया है) के मार्ग को प्रकाशमय कर देते हैं, तत्पश्चात् जीवात्मा का हृदय-गुहा से निर्गमन होता है।

१६- **हृदय-गुहा से निर्गमन :-** हृदय गुहा से निर्गमन कर चेतन

सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से प्रविष्ट होकर मूर्धन्य नाड़ी में पहुँचता है पुन: वहाँ से भी उसका निष्क्रमण हो जाता है।

१७- **मूर्धन्य नाड़ी निष्क्रमण** :- मूर्धन्य-नाड़ी-निष्क्रमण अर्थात शिरस्थ ब्रह्म-पुर में पहुँचकर ब्रह्म रंध्र को भेदकर जीवात्मा का निष्क्रमण होना तत्पश्चात् वह अर्चिरादि मार्ग का अनुगमन करता है।

१८- **अर्चिरादि मार्गानुगमन** :- अर्चिरादि मार्गानुगमन यथा श्रुति शास्त्रों में वर्णन है, उसी क्रम से गमन करता हुआ अपने अतिवाहिक शरीर से चेतन पूजित होता है।

१९- **अतिवाहिक सत्कार** :- अतिवाहिक सत्कार का अर्थ है, सूर्य मंडल को भेद करके जाने में आवरण के भीतर जो-जो लोक पंथ में पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ के लोक निवासियों एवं लोकेशों से जीव के सूक्ष्म शरीर का अत्यन्त सत्कारित होना इसके पश्चात् आवरणातिक्रमण होता है।

२०- **आवरणातिक्रमण** :- आवरणातिक्रमण माने अष्ट प्रकृति के उस पार की अत्यन्त समीपता अर्थात सीमा लंघन में पहुँच जाना।

२१- **प्रकृति लंघन** :- प्रकृति लंघन करते ही प्रकृति मंडल के उस पार अर्थात् अप्राकृत देश में यह जीवात्मा प्राप्त हो जाता है, पुन: बिरजा स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त करता है।

२२- **बिरजा स्नान** :-बिरजा नदी अप्राकृत देश में बहती हुई स्नान करने वाले चेतन को विरज अर्थात सूक्ष्म-कारणादि शरीर से पृथक कर देती है।

२३- **सूक्ष्म-शरीर विश्लेष** :- सूक्ष्म शरीर के विश्लेष होते ही चेतन में परम शुद्ध चेतनत्व को छोड़कर और कुछ नहीं अवशेष रहता, अपहत् पाप्मत्वादि गुण गण प्रादुर्भूत हो जाते हैं।

२४- **अपहत् पाप्मत्वादि गुण-गण प्रादुर्भूत** :- अपहत् पाप्मत्वादि गुण-गण प्रादुर्भूत का अर्थ है महादानि भगवान की इच्छा से भगवत के श्रेयातिश्रेय कल्याण-गुणों का चेतन में उदय हो जाना। ईश्वर गुण-गण उत्पन्न होने पर जीव को अमानव कर-स्पर्श प्राप्त होता है।

२५- **अमानव कर-स्पर्श :-** अमानव कर स्पर्श पाकर जीव को भगवत संकल्प से कल्पित दिव्य देह की प्राप्ति होती है।

२६- **भगवत-संकल्प कल्पित दिव्य देह :-** भगवत-संकल्प से कल्पित दिव्य देह सच्चिदानन्दमयी होती है अर्थात् जिस तत्व का देही होता है, उसी तत्व की देह भी होती है। उसके पश्चात् अकाल काल्य दिव्य देश की प्राप्ति होती है।

२७- **अकाल काल्य दिव्य देश की प्राप्ति :-** अकाल काल्य दिव्य देश की प्राप्ति का अर्थ है, अपुनरावर्ती धाम की प्राप्ति। जहाँ काल की न कलना है, न सूर्य है न चन्द्र। न अग्नि है न षटोर्मियाँ। वह सच्चिदानन्दमय, परमात्म तत्व से अभिन्न होता है, तत्पश्चात चेतन सर में स्नान किया जाता है।

२८- **स्मदीय सर स्नान :-** स्मदीय सर स्नान करने का अर्थ है चेतन का शेषत्व रस में प्लावित हो जाना। स्नान के पश्चात् दिव्यालंकारों से जीव अलंकृत हो जाता है।

२९- **दिव्यालंकारों से अलंकृत :-** दिव्यालंकारों से अलंकृत चेतन नख से शिख पर्यन्त सर्वाङ्ग शोभा सम्पन्न होकर चमत्कृत होता है, पुन: विमानारूढ़ होता है।

३०- **दिव्य विमानारोहण :-** दिव्य विमानारोहण होने पर चेतन दिव्य विमान द्वारा आगे वेग गति से गमन करता हुआ तिल्याकांतार प्रवेश करता है।

३१- **तिल्याकांतार प्रवेश :-** तिल्याकांतार प्रवेश कर दिव्य वनों का विहार स्थली के दर्शन से परमानन्द का अनुभव करता हुआ आगे दिव्य अप्सराओं से सत्कारित होता है।

३२- **दिव्यापसरा सत्कार :-** दिव्य अपसराओं से सम्मानित चेतन भगवत कृपा प्रसाद का अनुसंधान करता हुआ आगे तिल्य गंध में प्रवेश करता है।

३३- **तिल्य-गंध प्रवेश :-** तिल्य गंध प्रवेश करते ही जीव का दिव्य वपु दिव्य गंधमय हो जाता है, तत्पश्चात् उसका ब्रह्म गंध प्रवेश होता है।

३४- **ब्रह्म-गंध प्रवेश :-** ब्रह्म-गंध प्रवेश चेतन को ब्रह्म-गंधमय बना देता है, तत्पश्चात् वह अप्राकृत गोलोक में प्रवेश करता है।

३५- **अप्राकृत गोलोक प्रवेश :-** अप्राकृत अर्थात् सच्चिदानन्द मय गोलोक में पहुँचकर जीव उस लोक का अनुभव करता हुआ परम तृप्ति को प्राप्त होता है, तत्पश्चात् उसे दिव्य नगर की प्राप्ति का सुअवसर आता है।

३६- **दिव्य नगर की प्राप्ति :-** दिव्य नगर की प्राप्ति ही वैष्णवों के उपासनानुसार साकेत, वृन्दावन और बैकुण्ठ प्राप्ति के नाम से पुकारी जाती है। नगर प्रवेश करते ही दिव्य-सूरिगणों का प्रत्युद्गमन होता है।

३७- **सूरिपरिषत्प्रत्युद्गमन :-** सूरिपरिषत्प्रत्युद्गमन अर्थात दिव्य सूरि गण प्रभु प्राप्ति करने वाले चेतन को दिव्य धाम में आया हुआ जानकर अपने-अपने आलयों से उठकर अगुआनी करके उसका सम्मान करते हैं, जैसे लोक में दूर देश से आये हुए अपने कुटुम्बी को लोग आगे चलकर आतुरता से मिलते हैं। सबसे सम्मानित चेतन राजमार्ग से गमन करता है।

३८- **राजमार्ग गमन :-** राजमार्ग गमन करते समय जीवात्मा मार्गीय स्त्री-पुरुषों से सुसत्कृत होकर प्रेम का प्रदर्शन करता हुआ ब्रह्म तेज में प्रवेश करता है।

३९- **ब्रह्म तेज-प्रवेश :-** ब्रह्म तेज-प्रवेश होते ही चेतन ब्रह्म-तेज से ब्रह्म तेजोमय होकर प्रथम ब्रह्म-वेश्म के गोपुर की प्राप्ति करता है।

४०- **दिव्य गोपुर प्राप्ति :-** ब्रह्म भवन का गोपुर (ऊँचा द्वार) दूर से भी दर्शन देने वाला, उच्चातिउच्च शोभा की सीमा व द्वारपालों से सेवनीय होता है। आगे चेतन ब्रह्म-वेश्म में प्रवेश करता है।

४१- **ब्रह्म वेश्म प्रवेश :-** ब्रह्म वेश्म प्रवेश करके चेतन के आनन्द-समुद्र का आन्दोलन बड़े वेग से बढ़ने लगता है। दिव्य नेत्रों से दर्शन करता हुआ वह दिव्य मण्डप की प्राप्ति करता है।

४२- **दिव्य मण्डप प्राप्ति :-** दिव्य मण्डप सच्चिदानन्दमय कल्प वृक्ष के नीचे सच्चिदानन्दमय तत्वों से निर्मित वृहद विस्तार वाला होता है, जहाँ बीच में दिव्य रत्न वेदिका के ऊपर दिव्य रत्न

सिंहासन शोभायमान होता है, जिसमें बने हुए दिव्य अष्ट दलीय कमल-कर्णिका पर श्री जी सहित श्रीपति विराजते हैं। परिकर बृन्द सेवा में संलग्न चारों ओर से उन्हें आवृत किये रहते हैं। वहाँ पहुँचकर चेतन को दिव्य परिषत्प्राप्ति होती है।

४३- **दिव्य परिषत्प्राप्ति :-** दिव्य परिषत्प्राप्ति का अर्थ है, युगल जोड़ी (श्री सहित भगवान) के दिव्य परिकरों का सादर सप्रेम सम्मिलन, वह भागवतानुभव जनित सुख वहाँ पहुँचने पर ही अनुभव किया जा सकता है, तत्पश्चात चेतन को सपत्नीक सर्वेश्वर का दर्शन प्राप्त होता है।

४४- **सपत्नीक सर्वेश्वर दर्शन प्राप्ति :-** सपत्नीक सर्वेश्वर दर्शन प्राप्ति आर्त-प्रपन्न की भगवद्विरह-वह्नि बुझाकर हृदय को अत्यन्त शीतल बना देती है। चेतन आनन्दमय बन जाता है। अपनी दिव्य आँखों से अपलक देखता हुआ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों प्रभु के नव-नव प्रवर्धमान सौन्दर्य-सिन्धु के दर्शन अधिकाधिक उसे होते जाते हैं। इस प्रकार के दर्शन को प्राप्त कर स्तुति प्रणामांजलि प्रमुख ससंभ्रमानुवर्तन करता है।

४५- **स्तुति प्रणमांजलि प्रमुख ससंभ्रमानुवर्तन :-** स्तुति प्रणामांजलि प्रमुख ससंभ्रमानुवर्तन अर्थात् प्रभु की स्तुति एवं प्रणाम करता हुआ संपुटाञ्जली ससंभ्रम चित्त से चेतन भगवान के सम्मुख चलकर समीप पहुँच जाता है।

४६- **परमात्म-समीप प्राप्ति :-** परमात्म सान्निध्य प्राप्ति होने पर चेतन का शाश्वत सुख-सिन्धु, अधिक-अधिक वृद्धिङ्गत होता जाता है। आचार्यानुकम्पा से समीप पहुँचते ही चरण पीठ पर प्रणाम करने पर भगवान अपने संकल्प से प्रेरित चेतन का हाथ पकड़कर अपनी ओर आकर्षित करते हैं, तब यह पाद-पीठ पर्यङ्कारोहण करता है।

नोट :- परमात्म-पद समीप प्राप्ति से मतलब श्री जी सहित भगवान की प्राप्ति से है, श्री जी प्रभु से संकेत करती हैं, कि यह आपका परम अनुरागी चेतन आपकी निर्हेतुक कृपा से आपको प्राप्त कर लिया, अब आप इसे अपने प्यार का अनुभव करायें तथा स्वयं चेतन लाभ का अपने अनुरूप आस्वाद लें। श्री जी के पुरुषकारत्व को देखकर भगवान उनके

कृपा वात्सल्य को मन में सराहते हुए जीव का हाथ पकड़कर अपनी ओर सादर आकर्षित करके स्वस्वरूपानुकूल स्वभोग के स्पर्शानन्द का अनुभव करते हैं।

४७- **प्रभु-पाद-पीठ-पर्यङ्कारोहण :-** भगवान वात्सल्य भाव से विभोर होकर अनंत काल से बिछुड़े हुये चेतन को देखकर इतने सुखी होते हैं, जितना बहुत दिनों का भूखा रसयुक्त अन्न को देखकर आनन्दित होता है, अस्तु अपने भोग्य चेतन का हाथ पकड़कर अपने अंक में लेने के लिये आतुर हो उठते हैं। प्रभु की इच्छानुसार चलना ही शेष का सहज स्वरूप होने से चेतन भगवत् के पाद पीठ एवं पर्यङ्क में चढ़ जाता है। पुन: उसे भगवदुत्संग संग होता है।

४८- **भगवदुत्संग-संग :-** भगवदुत्संग-संग की प्राप्ति होने पर चेतन प्रभु की गोद में बैठकर परमानन्द में विभोर हो जाता है, पुन: प्रभु की कृपा से भगवद्दर्शन नेत्र भर करके वार्ता करता है।

४९- **आलोकनालापाद्यनुभव :-** आलोकनालापाद्यनुभव अर्थात् भगवदवलोकन करता हुआ वार्तालाप करके परस्पर चेतन-महाचेतन आनन्द मग्न हो जाते हैं, उन दोनों के सुख को तीसरा कौन और कैसे अनुभव करे, पुन: दोनों आलिंगनानुभव करते हैं।

५०- **आलिंगनानुभव :-** परस्पर आलिंगन में अपार आनन्द को प्राप्त कर स्वामी-सेवक दोनों अपने को भूलकर एक हो जाते हैं। प्रेमाद्वैत रसाद्वैत की संज्ञा इसी स्थिति ने पाई है। पुन: चेतन भगवतस्वरूप-गुण विग्रहादि का अनुभव करता है।

५१- **स्वरूप-रूप गुण-गण विग्रहाद्यनुभव :-** स्वरूप-रूप गुण-गण-विग्रहाद्यनुभव अर्थात् चेतन भगवान के सर्व शेषत्व, सर्व भोक्तृत्व, सर्व रक्षकत्व और परम-स्वातंत्रादि वैभवों का तथा प्रभु के परत्व, सौलभ्य, और सौन्दर्यादि दिव्य अनंतानंत कल्याण गुण-गणों के सहित माधुर्य-महोदधि, सौकुमार्य-सागर विशेषण वाले विग्रह का अनुभव करता है, जिससे प्रीति-प्रकर्षता को प्राप्त होती है।

५२- **अनुभव जनित प्रीति-प्रकर्षता :-** अनुभव जनित प्रीति-प्रकर्षता अर्थात् भगवान के रूपादि का अनुभव करके प्रीति पराकाष्ठा पर

पहुँचने पर भी उसी भाँति नित्य बढ़ती रहती है, जैसे समुद्र चन्द्रमा को देखकर सदा वर्धमान होता रहता है। भगवदनुभव से अलम् तृप्ति चेतन को नहीं होती, उसे लगता है, कि भगवान के रूपामृत को पीते ही जायें, पीना कभी इति को न प्राप्त हो।

५३- **नाना विधि विग्रह-परिग्रह :-** नाना विधि विग्रह परिग्रह अर्थात् प्रकर्ष प्रीति के पश्चात् भगवान के संकल्पानुसार चेतन को नाना विधि विग्रह-परिग्रह प्राप्त होता है, जिससे वह प्रभु कैंकर्य के लिये कैंकर्यानुसार विग्रह धारण कर लेता है अर्थात् एक साथ ही अनेक कैंकर्य के लिये अनेक विग्रह बनाकर प्रभु कैंकर्य परायण होता है।

५४- **सर्व देश सर्व काल सर्वावस्थोचित सर्व प्रकार कैंकर्य प्राप्ति :-** सर्व देश सर्व काल सर्वावस्थोचित सर्व प्रकार कैंकर्य प्राप्ति भगवदनुकम्पा से चेतन को परम तृप्ति देने वाली स्वरूपानुकूल होती है, यही उसका परम पुरुषार्थ है। इस प्राप्ति के आगे कोई प्राप्तव्य वस्तु शेष नहीं रहती। चेतन परम तत्व भगवान को तथा परमात्मा जीवात्मा को प्राप्त कर परम लाभ का अनुभव करते हैं, यही दोनों के सहज सम्बन्ध एवं प्रीति का परम फल है।

नोट :- श्री जी सहित भगवान का कैंकर्य ही चेतन का परम पुरुषार्थ है, प्रपत्ति-काल में चेतन श्री जी को पुरुषकार रूप में वरण करता है किन्तु भोग्य काल में मिथुन जोड़ी को अर्थात् श्री जी सहित भगवान को अपना भोक्ता स्वीकार करके दोनों के प्रीत्यर्थ एवं सुखार्थ निष्काम कैंकर्य करता है।

---०---

१३४. वैष्णव-दर्शन का दर्शन

१- वैष्णव-दर्शन में आचार्य प्रमाता है, मंत्रद्वय प्रमाण है तथा पूर्णातिपूर्ण परब्रह्म पद वाच्य अच्युत धाम में अपने दिव्य परिकरों सहित विहार करने वाले श्री जी से संयुक्त भगवान प्रमेय हैं।

२- वैष्णव-दर्शन में वेद प्रमाता है, मूल मंत्र प्रमाण है तथा अपुनरावर्ती अव्यक्त दिव्य सच्चिदानन्द धाम में अपने पार्षदों सहित सदा नव-नव लीला परायण युगल जोड़ी (श्री से संयुक्त भगवान) प्रमेय है।

३- वैष्णव-दर्शन में स्वयं भगवान प्रमाता हैं, चरम मंत्र प्रमाण है। सर्वलोक शारण्य, सर्वेश्वर, सर्वभूतात्मा, सर्वदेश वन्दनीय, परमात्म पद वाच्य स्वयं भगवान प्रमेय हैं, जो प्रकृति से परे अप्राकृत धाम में अपने परिकरों सहित सच्चिदानन्दमय विग्रहवान विराजते हैं।

४- वैष्णव-दर्शन में वेदोपब्रंहण, इतिहास, पुराण, स्मृती, प्रमाता हैं, उनके सार गर्भित छन्द-प्रबन्ध प्रमाण हैं, भक्त भावन, भगवान प्रमेय हैं, यह अर्थ हर स्थान में पूर्ण विवरण के साथ देखा जा सकता है।

५- वैष्णव-दर्शन में महेश पद प्राप्त श्रीमान् शंकर, लोक स्रष्टा ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुक, सनकादि, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु मुनि कौंडिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण, प्रह्लाद, ध्रुव, रुक्मांगद, विश्वामित्र, वशिष्ट, वाल्मीकि, पुण्डरीक, अम्बरीष, सूत, शौनक इत्यादि परम भागवत प्रभृत गण प्रमाता हैं। इन भागवतों के आचरण और सिद्धान्त-वाक्य प्रमाण हैं तथा इन सभी के आराध्य इष्टदेव परमपद प्रतिष्ठित भगवान प्रमेय हैं।

नोट- वैष्णवों को अपने-अपने उपास्य भगवान के विग्रह एवं नामानुरूप दिव्य धाम का नाम भी समझ लेना चाहिये।

---o---

१३५. पूर्वाचार्यों के प्रबन्धों से चयन की हुई वार्तामणि की वैष्णवीय सुभाषित रत्नमाला

१- जिस प्रपन्न चेतन को महोपकार स्वसद्गुरु के विषय में कृतज्ञता, प्रीति, प्रतीति, उनके वियोग में भय, साथ रहने में अत्यन्त रुचि, मंगलानुशासन, आचार्य देह की चिन्ता और अनुभव की इच्छा नामक गुण रहते हैं, वही आत्मज्ञानी है।

२- शिष्य को चाहिए, कि आचार्य की प्रसन्नता को (शिष्य के संकोच्च एवं भय से जो बनी है) क्रोध समझे तथा क्रोध को (जो अनुचित कार्य देखकर शिक्षार्थ उत्पन्न होता है) प्रसन्नता समझे।

३- आचार्य ज्ञान-प्रदाता हैं। श्री वैष्णव ज्ञान-विवर्धक हैं, भगवान ज्ञेय अर्थात ज्ञान के विषय हैं, ज्ञान का फल कैंकर्य है। फल की मधुरता भागवत कैंकर्य है।

४- अर्थासक्त (अर्थ प्रवण) को द्रव्यादि की अत्यन्त अपेक्षा रहने से न कोई बन्धु होता न कोई आचार्य। विषयी-पुरुष को न लज्जा होती है न भय। क्षुधार्त को न कोई विवेक होता न कोई नियम। ज्ञानी को (प्रेमी को) न निद्रा होती और न सुख।

५- यदि आचार्य का कोई प्रत्युपकार करना चाहे, तो चार विभूति और दो ईश्वर होने चाहिये।

६- अर्थ और कामोपभोग में अरुचि उत्पन्न कर भगवद्भागवत में अत्यन्त प्रीति को प्रगट करने वाले ही आचार्य पद के योग्य हैं।

७- शिष्य को अपना सर्वस्व परम पद प्रदायक ज्ञान देकर जो शिष्य के हाथ के नीचे अपना हाथ रखने की इच्छा नहीं रखते, वही सदाचार्य हैं।

८- शिष्य के अपने प्रति अपराध करने पर भी जिसके हृदय में उसका अहित चिन्तन न होकर कल्याण कामना जाग जाती है, वही सदाचार्य है।

९- नन्हें शिशु को रुग्णावस्था में देखकर वात्सल्य भाव भरी माता जैसे स्वयं औषध सेवन कर बच्चे को स्वस्थ बनाती है, उसी प्रकार शिष्य को साधन हीन भव-रोग से व्यथित देखकर जो स्वयं, सिद्धोपायादि साधन रूपी औषध खाकर निरोग बनाते हैं, वही सदाचार्य है।

१०- जो अपने आचार्यपने का अभिमान न रखते हुये स्वरूपानुरूप अनुष्ठानों एवं आचरणों से शिष्य समुदाय को शिक्षा देता रहता है, वही सदाचार्य है।

११- चेतन (जीव) स्वरूपिणी कन्या को जो सद्गुरु-स्वरूप-पिता, भगवान रूपी वर को, गुरु परम्परा रूपी पुरुषकार द्वारा मंत्रद्वय पढ़कर दान कर देता है, वही सदाचार्य है।

१२- आचार्य-वरण किये हुये शरणागत अधिकारी चेतन को अहंकारादि से संयुक्त होने पर भी त्याग न कर भगवान स्वीकार करते हैं अर्थात् अपने भोग में उसका विनियोग करते हैं।

१३- जैसे कृषक भोगकाल में धान की भूसी को पृथक कर सिद्ध

चावल को प्रेमपूर्वक पाते हैं, वैसे ही भगवान भोगानुभव समय प्रपन्न जीव के अहंकार और ममकार रूपी ऊपरी मैल को छुड़ाकर उसका अनुभव करते हैं।

१४- जिस प्रकार गाय अभी उत्पन्न हुये बछड़े के शरीर पर के मल को भोग्य समझकर चाट जाती है, उसी प्रकार प्रपन्न जीवों अनन्तापराधों और दोषों को भोग्यता बुद्धि से भेंट समझकर भगवान स्वीकार करते हैं, क्योंकि आप वात्सल्य भाव से भरपूर भरे रहते हैं।

१५- "परित्यज्य" और "शरणं प्रपद्ये" उपाय नहीं है, अर्थात् प्रतिकूलोपाय का त्याग और सिद्धोपाय का ग्रहण उपाय नहीं है। त्याग कराकर ग्रहण कराने वाले की कृपा उपाय है।

१६- ईश्वर को उपाय मानना, भूखे परमात्मा को सुन्दर स्वाद युक्त भोजन समर्पण कर परम प्रसन्न करना है, इतरोपाय स्वीकार करना अनुभव काल में सामने से भोजन थार अपहृत कर लेने के समान है।

१७- परम पुरुषार्थ स्वरुप कैंकर्य इस लोक में शेषत्वानुकूल होता है, किन्तु मुक्त दशा में (भगवद्धाम में) भगवदिच्छानुसार होता है।

१८- प्राप्य परमात्मा के अतिरिक्त विषय सुख की कामना के लिये शास्त्र निषेध करते हैं। साधनान्तरों के ग्रहण करने की इच्छा को स्वस्वरूपानुरूप प्रभु पारतन्त्र्य रोकता है। सिद्ध साधन प्रपत्ति को उपायतया स्वीकार करने से भगवदेकोपायत्व स्वरूप अवरोध करता है।

१९- स्वतंत्रता को विवर्धन करने वाले संसारी सुख में अरुचि, पारतन्त्र्योत्पादक भगवद्भागवत कैंकर्य में अत्यन्त रुचि, ज्ञानानुष्ठानों में प्रीति, प्रपन्न प्रभु-प्रेमियों के सतसंग का अनवरत सेवन और प्रेमी परिकरों के बीच विराजित श्री सहित भगवान के धाम में पहुंचकर स्व-प्रयोजन निवृत्ति पूर्वक उनके कैंकर्य प्राप्त करने का लक्ष्य बना रहना शरणागत चेतन की निष्ठा है।

२०- भव-भीति, प्राप्य-प्रेम, आकिंचन्य, अनन्य गतित्व, आर्तित्व, स्वदोष-ज्ञान, स्वरूप-ज्ञान एवं उसका प्रकाश, अधिकारी प्रपन्न चेतन का स्वरूप है।

२१- मुमुक्ष, वही है, जिसे यह दृष्ट संसार न दीख पड़े तथा न दीखने वाला परम पद दीखने लगे।

२२- अधिकारी मुमुक्ष मंत्र रत्न का अनुसंधान करते हुये समाधिस्थ हो जाता है तथा परम पद का सुख अनुभव करने लगता है।

२३- वस्तुमान वस्तु के अनुसार होता है, वस्तु विनियोग के अनुसार होती है, विनियोग भोग के अनुसार होता है, भोग इच्छानुसार होता है, इच्छा आनुगुण्य के अनुसार होती है। आनुगुण्य का अर्थ है, भगवान के अनुकूल होकर रहना।

२४- प्रपत्ति भागवत पर्यन्त होनी चाहिये अर्थात् अकार त्रयानुसंधान भगवद्भागवत (तत् और तदीय) में होना चाहिये।

२५- या तो यह चेतन अनुग्रह पूर्ण आचार्य से दिये हुये मंत्ररत्न का अनुष्ठान कर परम पद प्राप्त कर ले या संसारी बनकर शोक सागर में गोता लगाता रहे। इसके अतिरिक्त इसका कोई कहीं ठिकाना नहीं है।

२६- प्रपत्ति बार-बार करने का कोई नियम नही है, परन्तु प्राप्य वस्तु में अत्यन्त तृष्णा के कारण प्रीति-प्रेरित होकर अनेक बार की जा सकती है।

२७- शरणागत चेतन को पूर्व संचित कर्मों के फल को भोगना नहीं पड़ता क्योंकि सम्मुख होते ही उसके अनंत जन्मों के पाप समूह नष्ट कर दिये जाते हैं।

२८- भगवान प्रपन्न-भक्त की उसी इच्छा को पूर्ण करते हैं, जो उनके चरण कमल के अनुभव के विरुद्ध नहीं होती।

२९- इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति भगवान के हाथ में है, अस्तु चेतन को स्वप्रयत्न परित्याग कर भगवदाश्रयण ग्रहण कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

३०- शास्त्र में प्रीति-प्रतीति के कारण श्री मूल मंत्र को ग्रहण किया जाता है, शरण्य परमात्मा में प्रेम होने से चरम श्लोक अपनाया जाता है तथा आचार्य में श्रद्धा एवं अभिरूचि होने से मंत्रद्वय ग्रहण किया जाता है।

३१- श्री मूल मंत्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का विवेचन करता है, श्री चरम मंत्र उपाय के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करता है, श्री मंत्र द्वय मंत्र उपेय का यथार्थ स्वरूप बतलाता है।

३२- अपने सर्व सामर्थ्य का परित्याग कर सर्व समर्थ भगवान के सहारे रहना, प्रपत्ति में उपाय बुद्धि को विसर्जन कर उपेय विषय में त्वरावान होकर रहना पारतन्त्र्य कहलाता है।

३३- सोना जितना ही तपाया जाय, उतना ही निर्मल प्रकाशित होता है उसी प्रकार चेतन का अहंकार-ममकार-मल दूर होने पर ज्ञान-संकोच जब नष्ट होता है तब उसमें चमक आती है।

३४- माता के भरोसे निश्चिन्त बालक जैसे खेल में निमग्न रहता है उसी प्रकार सद्गुरु से प्राप्त श्री मूल-मंत्रार्थ में अधिकार रखता हुआ दृढ़ विश्वासी प्रपन्न चेतन भगवत भरोसे निश्चिन्त रहता है।

३५- स्वस्वरुप (भगवदनन्यार्ह शेषत्व) स्वरूपान्तर (देवतान्तरादि शेषत्व) को नहीं सहता। प्रपत्ति (सिद्धोपाय) उपायान्तर को नहीं सहती स्वरूपानुसार प्रयोजन (भगवत्कैंकर्य) प्रयोजनान्तर (दृष्ट, अदृष्ट, विषयसुख) को नहीं सहता।

३६- वात्सल्यादि गुण विशिष्ट वस्तु आश्रय ग्रहण करने योग्य है। ज्ञान शक्त्यादि गुण विशिष्ट वस्तु उपाय है। समस्त कल्याण गुण-गण-निलय वस्तु भोग्य है।

३७- सर्व-शेषी, सर्व-भोक्ता, सर्व-रक्षक श्री सहित भगवान के मिथुन जोड़ी को छोड़कर अन्यत्र कोई प्राणी, पदार्थ नहीं, जो आश्रयणीय प्रति सम्बन्धी, शेषत्व-प्रति सम्बन्धी और कैंकर्य प्रति सम्बन्धी हो।

३८- १. रक्ष्य-रक्षक सम्बन्ध, २. पिता-पुत्र सम्बन्ध, ३. शेषि-शेष सम्बन्ध, ४. भर्तृ-भार्या सम्बन्ध, ५. ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध, ६. स्व स्वामि सम्बन्ध, ७. शरीर-शरीरी सम्बन्ध, ८. आधार-आधेय सम्बन्ध ९. भोक्त-भोग्य सम्बन्ध, चेतन का भगवान के साथ सहज, स्वाभाविक नित्य और अनागन्तुक है।

३९- पौरुष को आरोपित कर लेने से पारतंत्र्य भाग जाता है, व्यापार अर्थात् स्वप्रयत्न का आरोप कर लेने से अध्यवसाय अर्थात्

महाविश्वास प्रणष्टता को प्राप्त हो जाता है। विषयान्तरों से सम्बन्ध कर लेने पर कैंकर्य विनष्ट हो जाला है।

४०- आत्मा रक्ष्य है, शेष भूत है, कार्य है, शरीरी ईश्वर का शरीर है, धार्य है, व्याप्य है, नियाम्य है, परतंत्र, शरणागत है, सेवक है, किंबहुना दास है, भोग्य है।

४१- ईश्वर रक्षक है, शेषी है, कारण है, शरीरी है, धारक है, व्यापक है, नियन्ता है, स्वतन्त्र है, शरण्य है, सेव्य है, किंबहुना नायक है सबका भोक्ता है।

४२- प्रकृति जड़ है, शरीर है, प्रकाश है, त्रिगुणात्मिका है, बंधन कारक विषय रुचि विवर्धन करने वाली है, ईश्वर के अधीन है, परतंत्र है, असत् और शून्य सी है, विपरीत ज्ञान की जननी है, ईश्वर के सकाश से उद्भवपालन-प्रलय करने वाली अचिन्त्य ईश्वर की शक्ति है, जीव को स्वप्रयत्न में लगाने वाली है।

४३- देह में भोग्यता बुद्धि, देह सम्बन्धी वस्तुओं में पुरुषार्थ बुद्धि, स्वर्गैवर्श्य में पुरुषार्थ बुद्धि, ब्रह्म लोक प्राप्ति में पुरुषार्थ बुद्धि और कैवल्य-पद प्राप्ति में पुरुषार्थ बुद्धि, भगवत प्रेम और उनके कैंकर्य रूप परम पुरुषार्थ प्राप्ति के विरोधी कहलाते हैं।

४४- भगवान के अनुवर्तन का विरोधी शरीर है। आचार्यानुवर्तन को रोकने वाले पुत्र-मित्रादि हैं। वैष्णवों के अनुवर्तन का प्रतिबन्धक इतर सहवास है। उपाय में दृढ़ निश्चय का विरोधी धन की प्रीति है, उपेय रुचि की विरोधिनी विषयासक्ति है।

४५- स्वरुप का प्रकाश ज्ञान से होता है, उपाय में सिद्धि महाविश्वासरूप अध्यवसाय से मिलती है, प्राप्य की प्राप्ति अपेक्षा और प्रेम से हाती है, विरोधी का शमन अरुचि और वैराग्य से होता है।

४६- १. शेषत्व में कर्तृत्व निवृत्ति, २. ज्ञातृत्व में कर्तृत्व निवृत्ति ३. कर्तृत्व में कर्तृत्व निवृत्ति ४. भोक्तृत्व में कर्तृत्व निवृत्ति, उपाय विषय का यथात्म ज्ञान कहलाता है।

४७- देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान, उपेयाभिमान और अहं के न होने का अभिमान न होना अहं रहित शुद्ध चेतन का स्परूप है।

४८- देवतान्तर अथवा वैष्णवेतर मनुष्य की कृपा का विश्वास रखने से गुरु और भगवान के दास होकर भी सम्पूर्ण संसार की दासता करनी पड़ती है।

४९- जगत के जीव भगवच्छरणागत होकर परम पद प्राप्ति की योग्यता रखते हुये भी संसारियों का आश्रयण कर नरक जा रहे हैं एवं भगवान का आश्रयण कर गौरव प्राप्त करने की योग्यता होने पर भी मूर्खों का संग कर दीनता के आधीन हो रहे हैं तथा श्री वैष्णवों का आश्रय कर श्री युक्त होने की योग्यता रखते हुये भी प्राकृतों का संग कर श्री विहीन हो रहे हैं, आचार्य की शरणागति करके अमृतपान की प्राप्ति रहने पर भी अज्ञानियों के संग से विपत्ति रूपी विष का अनुभव कर रहे हैं। श्री मूल मंत्रोपदेश को प्राप्त कर दोष विहीन होने की योग्यता होने पर भी ममता में पड़कर स्वरुप नाश को प्राप्त हो रहे हैं।

५०- निरन्तर नियमन करने वाले आचार्य की सेवा में सन्निकट रहे या आचार्य से सुशिक्षित शिष्य की सन्निधि में रहे, इन दो पथों के अतिरिक्त स्वरूप बोध का कोई अन्य मार्ग नहीं।

५१- आचार्य को शिष्य के विषय में हेय दृष्टि नहीं होनी चाहिये, भगवत्-सम्बन्धित भागवत् तथा अपने आचार्य परम्परा में प्रसूत भूत श्री वैष्णव समझकर अपने आचरण से उसके हित को करना चाहिये।

५२- सद्गुरु के श्री मुख वार्ताओं को प्रमाण सिद्ध (आप्त वंचन) समझना चाहिये, इससे मन वशीभूत होता है, अन्त:करण के वशीभूत होने से अन्तर्यामी प्रसन्न होता है, अन्तर्यामी के प्रसन्न होते ही अन्त: प्रकाश और अन्त: सुख की उपलब्धि होती है, इन दोनों के प्राप्त होते ही अन्तर्दोष और दु:ख दूर हो जाते हैं, इनके नाश होने पर अनन्तानन्द की प्राप्ति होती है।

५३- शत्रुओं से डरना या उनको भयभीत करना प्रपन्न के स्वरूपानुकूल नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी पदार्थ श्रीपति भगवान के हैं।

५४- ईश्वर रूपी कृषक के चेतन रूपी बीजाकुंर को शेषत्व रूपी खेत में बोया। उसे भागवतापचार एवं विपरीत ज्ञान रूपी कीड़े से बचाकर

सद्गुरु सेवन रूपी नहर से कृपा रूपी जल प्रवाहित कर सिंचन करना चाहिये, तत्पश्चात् भगवद्विषय रूपी फावड़े से अहंता-ममता रूपी घास को निकाल फेंके। अन्य देवाश्रय तथा अन्य मताङ्गीकार रूपी पशु इसे अपने गाल का कवल न बना लें तथा विषय वासना रूपी झंझावात उखाड़ न डाले, इससे बचने के लिये प्रपन्नता की पुष्ट बाड़ी लगावें, पुन: भागवतों के सतसंग रूपी मेह जल से भी उसका सिंचन होता रहे, इसके बाद वह अंकुर पल्लवित और पुष्पित होकर उक्त कृषक के मन को मोहन करने वाला हो जायगा, तब वह चतुर किसान सुन्दर दिव्य फूलों की माला बनाकर अपने गले में सदा के लिये धारण कर लेगा। दिव्य सूरिगण परमैकान्तिक वैष्णव इसी हार के सुमन हैं।

५५- अज्ञानमय बनने वाला चेतन है, अज्ञान मय बनाने वाली माया है, अज्ञान से मुक्त करने वाले भगवान हैं। ज्ञान प्राप्त करने वाला चेतन है, ज्ञान प्राप्त कराने वाले आचार्य हैं। ज्ञान स्वरूप ईश्वर है, अस्तु स्वस्वरूप, माया स्वरूप, आचार्य स्वरूप और ईश्वर स्वरूप जानना चाहिए।

५६- आचार्य, चेतन और परम चेतन दोनों का उपकार करते हैं, क्योंकि चेतन लाभ के लिये ईश्वर इतना लालायित रहता है, जितना कि अत्यन्त क्षुधातुर अन्न के लिये। चेतन का कल्याण एवं उसके स्वरूप की उपयोगिता भी परमात्मा के विनियोग में आने पर ही है।

५७- बिना जवनिका (विवस्त्र) के अपने समस्त दिव्याङ्गों का दर्शन दान देना भगवान का अपना सर्वस्व दान कहलाता है, सम्पूर्ण सम्प्रदाय रहस्यों का यथार्थ ज्ञान सच्छिष्य के लिये प्रदान करना आचार्य का सर्वस्व दान कहलाता है। अपनी आत्मा एवं आत्म सम्बन्धी समस्त वस्तुओं को अपने आचार्य चरणों में अर्पित कर देना शिष्य का सर्वात्म समर्पण कहलाता है।

५८- आचार्यानुवर्तन और उनकी सेवा शिष्य को भार्या के सदृश, शरीर के सदृश तथा धर्म के सदृश रहकर करनी चाहिये अर्थात "गुरोराज्ञा गरीयसी" का अक्षरश: सप्रेम पालन करते हुये गुरु-सुख को अपना सुख समझकर उन्हीं के सुख के लिये जीता रहे। आचार्याभिप्रायानुसार चले तथा उनका अभिप्राय रूप बन जाय। इस विषय में द्रोणाचार्य के

शिष्य एकलव्य का इतिहास स्मरणीय है। अपने आचार्य में अत्यन्त श्रद्धा होने से यह सिद्धि करतलगत होती है।

५९- शिष्य के विषय में सदाचार्य को भर्ता के समान, शरीरी के समान तथा धर्मी के समान होकर रहना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार किसी अचेतन पदार्थ का इच्छानुसार उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार विनियोग करना, उठा लेना, धारण किये रहना, धर्मी जैसे धर्म का त्याग नहीं करता वैसे ही आचार्य को शिष्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

६०- आचार्य वही है, जो अपने शिष्य के अपराध करने पर भी अहित चिन्तन न करके सब प्रकार से उसका भला चाहे। शिष्य वही है, जो आचार्य के अधीन सब प्रकार से रहे। उनके सप्रेम सेवा में संलग्न रहना ही परम पुरुषार्थ समझे।

६१- आत्म-समर्पण के समान कोई वेद-विहित पुण्य कर्म नहीं तथा आत्मापहरण के समान कोई पाप कर्म नहीं, इनसे भी बड़े सुकृत और दुष्कृत आत्मापहार का निवारण कर आत्म समर्पण कराने वाले महोपकारक सद्गुरु के विषय में कृतज्ञता और कृतघ्नता है।

६२- अपने आचार्य के आत्म-गुण, तथा देह-गुण दोनों ही शिष्य को उपादेय हैं।

६३- शरणापन्न चेतन को शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिये भी भगवान के सामने हाथ जोड़कर खड़ा नहीं होना चाहिये, ऐसा करने से प्राकृत सम्बन्ध में स्नेह सूचित होता है तथा ''भगवान स्वयं हमारे रक्षक हैं, जो करते हैं, भला ही करते हैं'' इसमें अविश्वास उत्पन्न होकर ममत्व बुद्धि का प्रगट होना प्रकाशित होता है किन्तु कहीं-कहीं भगवद्भागवत कैंकर्य करने के लिए शरीरारोग्यता प्राप्त करने की प्रभु-प्रार्थना जो वैष्णवों में अपवाद रूप से देखी जाती है, वह स्वरूपानुकूल सन्तोष प्रद है।

६४- आचार्य अथवा किसी वैष्णव को इतर संसारियों की तरह देह-निर्वाह के लिये अर्थ-काम में प्रीति हो तो, इनको भी प्राकृत मनुष्यों की भाँति नहीं समझना चाहिये, क्योंकि धनधान्यादि में इनकी इच्छा शरीर यात्रा के लिये है, इसके विपरीत संसारियों का अर्थ काम-प्रावण्य पुरुषार्थ समझकर है।

६५- शिष्य की सम्पूर्ण वस्तु आचार्य एवं उनके सम्बन्धियों के विनियोग के लिये है, स्वयं के लिये नहीं।

६६- वैष्णव आयु में अपने से छोटे हों या बड़े, किन्तु उन्हें सर्वदा श्रेष्ठ ही समझना चाहिए, जैसे शालिगराम शिला में छोटे और बड़े में भेद नहीं होता।

६७- वैष्णव के जूठन प्रसादी की महिमा अवर्णनीय है, जिसे पाकर शूद्र दासी-पुत्र, ब्रह्म-पुत्र नारद, मुनि बन गये, जिनकी महिमा गान के लिये अलग से बड़ी पुस्तक चाहिए। एक गोहटा यादव प्रकाश सन्यासी बन गये, जिन्हें श्री रामानुज स्वामी के विद्या गुरु बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

६८- जिस प्रकार सदाचार्य के द्वारा शिष्य स्वयं तर कर दूसरों को तारने वाला बन जाता है, उसी प्रकार सच्छिष्य के सम्बन्ध में आचार्य का जीवन उत्कर्षता को प्राप्त होता है।

६९- सदाचार्यों के माध्यम से भगवच्छरणागति करने वाले चेतनों को कोई भय नहीं क्योंकि उनका माध्यम प्रबल है।

७०- उद्धार के लिये भगवान की अपेक्षा करना, केवल बातों से विनय करने के समान है। भागवतों की अपेक्षा करना, हाथ पकड़कर प्रार्थना करने के सदृश है, आचार्य की अपेक्षा करना चरण पकड़कर प्रार्थना करने के समान है।

७१- स्वस्वातन्त्र्य रूप सर्प से दूर भागना अधिकारी का कर्तव्य है। अविद्या तथा देवतान्तर शेषत्व को दूर करना आचार्य कृत्य है, भय को दूर करना पुरुषकार का कर्तव्य है। विषयान्तरों से अरुचि उत्पन्न करना भगवान का कार्य है।

७२- जीव को दु:खानुभव प्रकृति के कारण होता है। दुखी चेतन के दुख को न सहने वाली "श्री" जी हैं। दु:खों को दूर करने वाले भगवान हैं और ऐसा ज्ञान कराने वाले श्री आचार्य हैं।

७३- किसी भी माया बद्ध चेतन के दुख-निवृत्ति के लिये उसको न समझाकर भगवान से प्रार्थना करनी चाहिये, जैसे किसी कैदी को

बेड़ियों से मुक्त करने के लिये उससे न कहकर राजा से प्रार्थना करने पर कार्य की शीघ्र सिद्धि देखी जाती है।

७४- शिष्य को ऐसा आचरण करना चाहिए, कि जिससे अपने आचार्य की कृपा प्राप्त हो जाय, बस इसी में सब अनुष्ठान हैं।

७५- संसारियों को भगवान के ही जानकर जो प्रभु प्राप्ति के लिये अनुकूल वार्ताओं को सुनाता है एवं उनकी दी हुई द्रव्य को भगवत सम्बन्धी समझकर (प्रकृति सम्बन्धी नहीं) भगवद्भागवत के विनियोग में लगाता है, वह उन लोगों का परम कल्याण करता है। स्वयं द्रव्यादि ग्रहण के दोष से तथा अनधिकारी को हितोपदेश करने के दोष से अछूता रहता है।

७६- लीला विभूति से छूटने के लिये ज्ञानाधिक भागवतों के सम्बन्ध का अभिमान आवश्यक है। भागवत अवस्था में चाहे छोटे हों या बड़े हों।

७७- रहस्य त्रयार्थ एवं अन्य हित की वार्ताओं को तब तक सदाचार्य से बार-बार श्रवण करता रहे, जब तक पूर्ण बोध न हो जाय।

७८- ज्ञानाधिक शिष्य की वार्ता यदि संत शास्त्रानुमोदित साम्प्रदायिक सिद्ध हो तो, उसका आदर करना चाहिये।

७९- वैष्णव को प्रपन्न भागवतों एवं आचार्य को छोड़कर नहीं रहना चाहिये। विरह में प्राणान्त क्लेश का अनुभव करना चाहिये।

८०- अपने आचार्य तथा प्रपन्न भागवतों को अत्यन्त सुखानुभूति हो, ऐसी कामना से कैंकर्य करने में कहीं शास्त्रानुकूल विधि में विपरीतता का दर्शन हो तो उसे स्नेहाधिक की विभोरता समझ कर दोष नहीं मानना चाहिये।

८१- आचार्याभिमान भगवान को रक्षक न बताकर आचार्य के चरण-कमल को रक्षक, उत्तारक बतलाता है।

८२- अपना घर-द्वार, गाँव एवं स्वजन-सम्पत्ति छोड़कर आचार्य के अभिमुख होते ही चेतन के उद्धार के लिये सबसे बड़ा उपाय बन जाता है।

८३- शिष्य की सेवा की अपेक्षा न रखकर चेतन के दुख को न सहते हुये केवल कृपा मात्र से प्रसन्नाचार्य की इच्छा से ही चेतन को परम पद की प्राप्ति हो जाती है।

८४- जो यह स्वीकार करते हैं, कि सर्वेश्वर भगवान मोक्ष प्रदाता हैं, वे आचार्य को अपना रक्षक मानते हैं। जो यह समझते हैं, कि आचार्य ही मोक्ष प्रदाता हैं, वे आचार्य वैभव को प्रकाशित करने वाले भगवान को रक्षक मानते हैं।

८५- प्रपन्न वैष्णव गुरु के पास अज्ञानी बन के जाय, भगवान के सम्मुख स्वपापानुसंधान पूर्वक पापी बन के जाय। शिष्यों के समीप अपने को भगवदानुग्रहाधिकारी समझता हुआ रहे।

८६- पराभक्ति अथवा विरहासक्ति ही स्वरूप निष्ठ प्रभु प्रेमियों की उच्च दशा कहलाती है।

८७- समस्त आचार्यों का अभिप्राय समस्त स्वरूप निष्ठ दिव्य प्रबन्ध गाने वाले प्रपन्न वैष्णवों का अन्तरंग तात्पर्य, समस्त वेदों की सम्मति तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का उद्देश्य आलोडन करने पर यही सार-सिद्धान्त सुस्पष्ट होता है, कि आचार्य कैंकर्य ही परम प्रयोजन है।

८८- अत्यन्त क्षुधातुर होने पर अपने भोजन करने के समान आचार्य कैंकर्य है। माता को भोजन पवाने के सदृश भागवत् कैंकर्य है। तथा राजा को भोजन कराने के समान भगवत कैंकर्य है।

८९- मुमुक्षु को पौरुष संग, काम संग और अर्थ संग त्यागने योग्य है एवं आचार्य विग्रह संग, आचार्य कैंकर्य संग, आचार्य प्रसादित सम्प्रदाय वार्ता संग उपादेय है।

९०- भगद्धामों का सेवन इसलिये अनिवार्य है, कि भगवदनुभव में विच्छेद न हो तथा गुणानुभव कैंकर्य में सहायता मिलती रहे।

९१- जिस प्रकार यौवन गर्वित कामुक पुरुष अपनी प्रियतमा को शरीर की मलिनता सहित भोग्य समझकर स्वीकार करता है, उसी प्रकार भगवान चेतनों को परिश्रम कर (सृष्टि रचकर, अवतार लेकर) और याचना कर उनके शरीर सहित परम पद ले जाना चाहते हैं।

९२- भगवान के लिए, भगवान का आश्रयण करने वाले प[र]मोत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त हैं। भगवान ही मेरे सर्व विधि बन्धु हैं, ऐसा मानने वाले यहाँ रहते हुये भी वहाँ ही हैं।

९३- प्रपत्ति-निष्ठ तीन प्रकार के होते हैं। १. शब्द निष्ठ (किसी प्रकार रहस्य त्रय मंत्र मुखोच्चारण करने वाले) २. अर्थ निष्ठ (अर्थानुसंधान मंत्र द्वयादि जपने वाले) ३. अभिमान निष्ठ (आचार्याभिमान निष्ठ)

९४- बद्ध जीवों के लिये अन्न जल धारक है, दुग्ध-घृत पोषक हैं, चन्दन, ताम्बूल, पुष्पमालादि भोग्य है। मुमुक्षु को ज्ञान धारक है, आचार्य वैभव पोषक है, भगवद्गुणानुसंधान भोग्य है। नित्य मुक्तों को श्री जी सहित भगवदनुभव धारक है,कैंकर्य पोषक हैं एवं भगवन्मुखोल्लास भोग्य है।

९५- संसारी लोग धन लुब्ध होते हैं, श्री वैष्णव ज्ञान लुब्ध होते हैं नित्य मुक्त कैंकर्य लोभी होते हैं, भगवान दास्य लुब्ध हैं।

९६- चेतन को स्वरूप प्राप्ति तभी संभव है, जब उसके समर्पण-विरोधी, साधन-विरोधी, प्राप्य-विरोधी तीनों पापों का क्रमशः शमन हो जाता है।

९७- साधक वैष्णव साधन रूप से कैंकर्य करते हैं, एकान्तिक कालक्षेप के लिये कैंकर्य करते हैं, परमैकान्तिक प्रबल राग होने से कैंकर्य करते हैं।

९८- भगवान के प्रति किये हुये अपराध से जन्मान्तर में मुक्त हो सकते हैं, किन्तु भागवतापराध करने पर जन्मान्तर में भी छुटकारा नहीं मिल सकता, यह प्रबल मोक्ष विरोधी है।

९९- पुरुषकार करने वाली कृपा विग्रहा श्री जी, चेतन का एक हाथ पकड़ लें तथा सदाचार्य भी एक हाथ पकड़कर भागवतापचारी चेतन को परम पद ले जाना चाहें तो भी बाधा उपस्थित हो जायेगी।

१००- भागवतापचार अनेक प्रकार का होता हुआ १२ प्रकार से मुख्य होता है -

१-जन्म निरूपण २- शरीर निरूपण ३- पाक निरूपण (बाल्यादि अवस्था निरूपण) ४- आश्रय निरूपण ५- अवयव निरूपण ६- आलस्य निरूपण (व्रणादि से दुर्गन्ध होने पर घृणा करना) ७- वास

निरूपण ८- बन्धु निरूपण (हमारा बन्धु है कहना) ९- प्रकाश निरूपण (सभी आचार्यों भागवतों को रक्षक न समझना) १०- प्रकार निरूपण (छोटा कैंकर्य करने वाले को छोटा समझना) ११- वर्तन निरूपण (जीविका के लिये नौकरी करने वाले को नौकर समझना) १२- दोष निरूपण (वैष्णव के दोष देखना)।

१०१- शरीर सम्बन्ध एवं प्राकृतिक सुख-दुख में रचे-पचे रहना, भागवतापचार एवं विषय प्रावण्य का ही परिणाम है।

१०२- शरणापन्न वैष्णव में दोष का दर्शन उसी प्रकार असंभव है, जैसे सूर्य में अन्धकार का। कभी किसी वैष्णव में जो दोष दिखाई देता है वह उनका नहीं है वास्तव में वह दोष भगवदिच्छा से भगवल्लीला का सहयोगी बनकर भगवत प्रेरणा से दृष्टिगोचर हो रहा है अथवा जाग्रतावस्था का स्वप्न है, अस्तु भागवतगण निर्दोषी होते हैं।

१०३- वैष्णव सिद्धान्तानुसार, वैष्णव, १- आहार नियम २- विहार नियम ३- अन्न नियम ४- भोजन नियम ५- स्नान नियम ६- स्वरूप नियम ७- उपाय नियम ८- उपेय नियम ९- वास नियम १०- पाक नियम (भगवत सेवा ही भोग है) ११- आचार नियम १२-संसर्ग नियम, इन १२ नियमों को स्वभाव में उतार लेते हैं।

१०४- जिस प्रकार वसुन्धरा विदीर्ण हो जाय तो उसका सीना असाध्य है, पर्वत टूट कर गिर पड़े तो पुन: उसको खड़ा करना असाध्य है, समुद्र उमड़ पड़े तो उसको रोकना असाध्य है, उसी प्रकार भागवतापचार बन जाने से उसका परिहार अप्राप्य है। सर्व समर्थ भगवान भी उसे क्षमा करने में अशक्य हैं। वे कहते हैं, कि "न क्षमामि कदाचन"।

१०५- चेतन का भागवत शेषत्व, स्वरूप है, भागवत प्रसाद उपाय है, भागवत कैंकर्य उपेय है और भागवतापचार विरोधी है। औपाधिक भागवत विषयक राग तथा निरुपाधिक भागवत-द्वेष जीव के घोर अपराध हैं।

१०६- अविहित विषय-स्पर्श दो प्रकार का है।

१- अविलक्षण विषय स्पर्श (वैश्यादि स्त्री गमन)-देव स्थान में मूत्र पुरीषोत्सर्ग के समान है, प्रायश्चित साध्य है।

२- विलक्षण विषय स्पर्श (वैष्णव स्त्री गमन)-तुलसी वृन्दावन में पुरीषोत्सर्ग के समान है, इसका प्रायश्चित नहीं अर्थात् जब तक आत्मा है, तब तक नरक का हेतु है।

१०७- देवान्तर के भजन से विषय की वृद्धि होती है अर्थात् संसारी सुख को ही वे प्रदान करते हैं।

१०८- प्राकृत जनों के सम्बन्ध से प्रकृति सम्बन्ध का भय बना रहना स्वाभाविक है। ममकार ही मृत्यु का स्वरूप है, अहं का नाश होने से ही इसका सर्वनाश संभव है।

१०९- भगवान के श्री विग्रह में तीन पर्व हैं। श्री मुख कमल, श्री कर कमल और श्री चरण कमल, जो क्रमश: चेतनों को परम भोग्य अभय दानि और आश्रय स्थान हैं।

११०- आचार्य-देह-चिन्ता सम्पन्न सच्छिष्य आचार्य शरीर के कैंकर्य को उपेय (परम पुरुषार्थ) समझते हैं। सद्गुरु सेवा से श्रमित होने पर शिष्य - शरीर से निकले हुये श्रम-कण दिव्य कमल के पुष्प बन जाते हैं। यह अर्थ इतिहास श्रेष्ठ श्री वाल्मीकि रामायण में देखा जा सकता है।

१११- आचार्य-सेवा-परायण सच्छिष्य के हृदय में केवल प्रसन्नाचार्य-कृपा मात्र से (बिना गुरु के बताये) ज्ञान का उदय हो जाता है, वह भगवान के परावर स्वरूप का अपरोक्ष दर्शन बिना साधन-श्रम के कर लेता है।

११२- भगवान का स्वरूप, शील-स्वभावादि चेतन को सदा सर्वत्र अनुसंधेय है अर्थात् भोगानुभव के लिये है, जैसे पंकज का पराग लुब्ध षट पद के लिये है, कमल के लिए नहीं।

११३- "हम अनुभव करते हैं" का अर्थ भगवान अनुभव करते हैं अर्थात् चेतन का अनुभव भगवान के अनुभव के अन्दर है।

११४- भगवान के सौशील्य, सौलभ्य और वात्सल्यादि दिव्य गुणों का विकास विशेष रूप से अमृत धाम में न होकर मृत धाम में ही होता है, जैसे दीपक सूर्य के सामने वैसा प्रकाशित नहीं होता जैसे अंधकार पूर्ण मंदिर में।

११५- चेतन के प्रेम-तन्तु से बंधे हुये सर्व-समर्थ भगवान अपने को पाश-मुक्त होने का स्वप्न भी नहीं देखते क्योंकि अधिकाधिक नेह-रज्जु के निशान उनके शरीर में अंकित होकर उन्हें परमानन्द-सिन्धु में शयन कराने के सहायक होते हैं।

११६- भगवान में आसक्त मन वाला भगवदाश्रयी ही समग्र रूप से भगवान को जानने, दर्शन करने और उनमें (उनके धाम में, कैंकर्य में) प्रवेश करने में समर्थ हो सकता है।

११७- प्रपत्ति करने वाले चेतन में कर्म, ज्ञान और भक्ति उपायतया न होकर रहते हैं, प्रेम लक्षणा पराभक्ति तो प्रपत्ता के प्रपत्ति की वैशुद्ध परिपाकावस्था ही है।

११८- प्रभु प्रेमी प्रपन्नों के सतसंग जनित आनन्दामृत के अतिरिक्त क्या और कोई अमृत है। पाताल के पीयूष तथा चन्द्र-सुधा और देव-लोक के अमृत को पीने वाले सभी मृत हो गये किन्तु सतसंग-सुधा के पान करने वाले सभी अमृतत्व को प्राप्त हो गये।

११९- गुप्त से गुप्त रहस्यमयी वार्ता, प्रपत्ति करने वाले आरत अधिकारी से श्री हरि, गुरु और संत जन छिपाने में सदा असमर्थ रहे हैं, और रहेंगे। अहा ! प्रपत्ति में कितनी अचिन्त्य शक्ति है।

१२०- प्रपत्ता को प्रपतव्या अपना सर्वस्व दान कर और और देने के लिये अन्वेषण करता है, किन्तु कुछ भी अपना न पाने पर उसका ऋणी बनकर सदा संकुचित रहता है।

१२१- गजेन्द्र की आह भरी आवाज में अपना अर्धनाम सुनते ही दौड़कर श्री हरि ने चक्र के द्वारा ग्राह-ग्रीवा को काट दिया। विलम्ब में पहुँचने की छमा याचना करते हुये कहा कि अब इतना अतिकाल किसी भी शरणागत चेतन की आर्त-पुकार पर न करूँगा। धन्यातिधन्य भगवान की सर्वलोक शारण्यता को।

१२२- अपने प्रति प्रपत्ति करने वाली श्री द्रौपदी जी की आर्ति दशा को देखकर अशुद्धावस्था का विचार न करते हुए स्वयं वस्त्र स्वरूप से शरीर से लिपट कर उसके लोक-लाज की रक्षा की।

१२३- रावण से नीचवत अपमान को प्राप्त पैरों से ठुकराया हुआ विभीषण भगवान से शरण याचना करते ही अभय हो गया, लंकाधिप बन गया, परम पद का अधिकार पा गया, भगवत सखा बन गया, ये सब दोनों विभूतियों के सुख विभीषण को देकर भी "हाय हमने इसको कुछ न दिया" कहते हुए भगवान सदा संकुचित बने रहे। धन्य है, इस सिद्धोपाय को, क्यों न हो भगवान स्वयं इसमें उपाय और उपेय रहते हैं।

१२४- प्रपत्ति करने वाले को लोक-लाज, स्वसामर्थ और स्वप्रयत्न व्यापार तथा प्रपतव्य को छोड़कर अन्य मुखापेक्षिता त्याग ही देना चाहिए।

१२५- सर्व साधन हीनता एवं स्वपाप-पीनता का अनुसंधान तथा अन्यालम्बन की अयोग्यता और प्राप्य-प्राप्ति की कामना ही भगवच्छरणागति का हेतु है।

१२६- अहा घर में आये हुये भार्या प्राणापहारी व्याध का आतिथ्य अपना शरीर और प्राण देकर एक कपोत ने किया था, तो भगवान के विषय में क्या कहना है, क्योंकि वे शरणागत वत्सल, सर्वलोक शारण्य, सर्व समर्थ प्रभु, और काल, कर्म, स्वभाव गुण भक्षक प्रपत्ति-धर्म वेत्ता हैं।

१२७- मलिन-काया, मलिन-वसना, दुर्गन्ध-दूषिता पत्नी को स्वपति से शयन-सुख की प्रार्थना करने की अपेक्षा अपने शरीर को स्वच्छ कर मन-मोहिनी सुन्दरी बन जाना चाहिए। पति स्वयं ही आकर्षित होकर आलिंगन प्रदान करेगा इसी प्रकार चेतन के अहंता-ममता रूपी मैल दूर हो जाने से भगवान स्वयं अपना सहज भोग समझकर उसका अनुभव करते हुए उसे अपना अनुभव कराते हैं।

१२८- सृष्टि वैभव में जो भी दृष्ट और श्रुत समूह सुख प्रद पदार्थ हैं, वे भगवतसंपत्ति-सागर के एक बूंद की तुलना में भी नहीं है, अस्तु अज्ञानी ही भौतिक-सुख के सतत प्रयास में लगे रहते हैं। ज्ञानी तो सर्व त्यागकर अमृताम्भोधि के सम्मुख त्वरा के साथ चल देते हैं।

१२९- भागवतों की सेवा से भगवान अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं। वे अपने सेवा की अपेक्षा न करके भागवतानुरागी के लिये अपने आप को समर्पण कर देते हैं।

१३०- "श्री जी" का साधु-वेश सत्कार करना अचिन्त्य है, उन्होंने लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन करके (अपने को अपने से भय के मुख में प्रवेश कराकर) आतिथ्य पूजन का आदर्श स्थापित किया।

१३१- विषय प्रावण्य की अधिकता से चेतन में इतनी अज्ञान की प्रबलता हो जाती है कि जिससे वह जड़त्व भाव को प्राप्त होकर काष्ठ और पत्थर में परिवर्तित हो जाता है।

१३२- विषय से वितृष्णता का उदय होने पर चेतन में आई हुई जड़ता का बीज ही समाप्त हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रगट होते ही सत्य ज्ञान स्वरूप हो जाता है, सूक्ष्म बुद्धि में आत्मा और परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह परमात्म विद् होकर परमात्मा से पृथक अपना ज्ञान नहीं रखता,अर्थात परमात्म तत्वमय हो जाता है। प्रकाशमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, मंगलमय, अमृतमय, रसमय, प्रेममय बन जाता है।

१३३- एक संख्या में, एक कोटि नहीं है, किन्तु एक करोड़ में एक है। गोष्पद में समुद्र नहीं है, परन्तु समुद्र में गोष्पद है, इसी प्रकार इतरोपाय में प्रपत्ति नहीं है, किन्तु प्रपत्ति में कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति सभी इतरोपाय सन्निहित है।

१३४- रहस्य त्रय मंत्रानुसंधान के बिना प्रपन्नों की देह-यात्रा संभव नहीं, संभव है तो वे प्रपन्न नहीं।

१३५- भगवत्प्राप्ति का विरोधी केवल शरीर ही नहीं है, अपने से किये हुये पुण्य भी पाप के समान विरोधी है, जैसे सुन्दरी के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हृदय हार और कंचुकी प्रियतम आलिंगन के विरोधी हैं, इसलिये पहले पाप से पृथक होकर पुण्य का सम्पादन करे पुन: प्रभु प्राप्ति के लिये पुण्य-कर्म से भी (पुण्य के संकल्प अहं-आसक्ति तथा फलाशा से) पृथक हो जाय।

१३६- समस्त चेतनों के अनुकूल होकर रहना ही प्रपन्न के आनुकूल्य संकल्प का स्वरूप है, क्योंकि भगवान अन्तर्यामी रूप से निश्चय सभी भूतों में निवास करते हैं।

१३७- भगवान का चिन्तन न करने वालों की संगति प्रपन्नों के लिये सर्वथा त्याज्य है। नेत्र से दर्शन, त्वचा से स्पर्श, वचन संभाषण करने मात्र से अपने स्वरूप की हानि प्रारम्भ हो जाती है।

१३८- भगवदाश्रयी प्रपन्न को अन्य देवान्तरों से दिया हुआ एवं साधनान्तरों से मिलने वाला अत्यन्त दुर्लभ कैवल्य पद (मोक्ष) भी अरुचिकर और अस्वीकार होता है।

१३९- भगवदाश्रयी को भगवच्छेषत्व की प्राप्ति हो जाने पर नरक में भी रहना पड़े तो उसे वहाँ परम पद जैसा आनन्द अनुभव में आता है।

१४०- प्रपन्न को भगवती "श्री जी" का, भगवान का और आचार्य का मंगलानुशासन निरन्तर करते रहना स्वरूपानुकूल है।

१४१- भगवान यदि एक साधारण चेतन पर अपनी कृपा बिन्दु बरसाते हैं, तो उससे केवल उसका ही उज्जीवन और उद्धार होता है, किन्तु वही कृपा-कटाक्षामृत अत्यन्तोदाराशयी परमोपकारी आचार्य पर जब वर्षा करते हैं, तो उनके उपदेश से लोक को श्रेष्ठाति-श्रेष्ठ जीवन प्राप्त हो जाता है, जैसे मेघ, गाय-खुर में वर्षे तो वह जल केवल गोष्पद भर के लिये होगा। इसके विपरीत यदि बड़े सरोवर में वर्षा करे, तो उससे प्राणी वर्गों के स्नान करने, पीने और देश के कृषि सींचने का काम होगा।

१४२- कृपा-सिन्धु भगवान जब विषय-प्रावण्य की प्रबलता से जीव को शास्त्रोपदेश से अपनी ओर आते नहीं देखते, तो किसी-किसी विशेष बड़भागी को अपना मंगल विग्रह दिखाकर विषयान्तरों से खींच लेते हैं, जिसका परिणाम यह होता है, कि वह भगवान को ही अपना शिष्य बनाकर आकर्षित चित्त से आसक्त होकर अनुभव करने लगता है।

१४३- भगवद्धाम प्राप्त करने वाले चेतन को भगवान, रूप साम्य, गुण साम्य और भोग साम्य नाम के त्रय साम्य प्रदान करते हैं।

१४४- भगवान के तीन आकार हैं, परत्व, सौलभ्य और सौन्दर्य। इनका अनुसंधान कर चेतन को अन्याश्रय परित्याग कर भगवदाश्रयण स्वीकार करना चाहिए।

१४५- कुसंग माने प्रकृति और प्राकृत पदार्थों का संग। सतसंग का अर्थ है भगवान और भागवतवृन्दों का संग, अस्तु प्रकृति और प्राकृत

वस्तुओं में त्याज्य व त्याज्यता बुद्धि और भगवद्भागवतों में उपादेय व उपादेयता बुद्धि होनी चाहिये।

१४६- किंचित सत्संग-सुख की तुलना में स्वर्ग-सुख और मोक्ष-सुख अपकृष्ट ही है, अस्तु कर्मावलम्बियों, अष्टाङ्ग योग करने वाले योगियों और शुष्क ज्ञानियों (मायावादियों) का संग भी सत्संग नहीं कहा जा सकता। भगवत संगियों के संग को ही सत्संग नाम मनीषियों ने दिया है।

१४७- जिस संग से प्रभु प्रेम की पवित्र धारा हृदय में बहने लगे और समीपवर्ती सभी प्राणियों को प्लावित कर दे, उसी संग का नाम सत्संग है और यह भगवद्भक्तों में ही संभव है जहाँ प्रभु के नाम, रूप, लीला, धाम का स्मरण एवं कीर्तन करते ही रस वृष्टि होने लगती है।

१४८- वैष्णव के निम्नोच्च ज्ञान को तथा उच्च ज्ञान में स्व-स्थिति को वैष्णव ज्ञान कहते हैं, अस्तु वैष्णव को गुरु और सद्गुरुओं का ज्ञान, अन्य मंत्रों और रहस्य त्रय मंत्र का ज्ञान, अन्य देवों और भगवान का ज्ञान, देह और आत्मा का ज्ञान, उपासक और प्रपन्न का ज्ञान, अन्य साधन और सिद्ध साधन का ज्ञान, पर व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार का ज्ञान, संसारी और वैष्णवों का ज्ञान, जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान, अन्य पुरुषार्थ और परम पुरुषार्थ का विद्यमान तारतम्य ज्ञान होना चाहिए।

१४९- प्रपन्नाधिकारी चेतन को शरीर पर्यन्त भगवान में आसक्त चित्त होकर आर्तिपूर्ण शरणागति मंत्र का अनुसंधान करते रहना चाहिये।

१५०- हाय ! मुझसे आर्तिपूर्ण प्रपत्ति न हो सकी, अस्तु, भगवान के कृपा का अधिकारी नहीं हूँ, अनन्य प्रयोजन न हो सका, इसलिये प्रभु के प्रेम-पात्र बनने की योग्यता भी मुझमें नहीं है, जान बूझकर पाप परायण हो रहा हूँ, अत: क्षमा पाने का भी अधिकारी नहीं हूँ। ऐसा पश्चाताप कर-करके प्रपन्न को भगवच्चरणों में गिरकर गिड़गिड़ाते हुए मंत्र द्वय का अनुसंधान कर उनकी अहैतुकी कृपा की याचना करनी चाहिए।

१५१- भगवान की अहैतुकी कृपा से भगवान में प्रियता का भाव प्राप्त होता है, भगवत-रुचि से आचार्य वरण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, आचार्य वरण से स्वीकार ज्ञान उत्पन्न होता है, स्वीकार ज्ञान भगवत प्राप्ति कराता है। प्रभु प्राप्ति से कैंकर्य करने की इच्छा होती है, भगवत-कैंकर्य से भागवत कैंकर्य में रुचि जागती है। इससे यह मालुम होता है, कि भगवत सेवा उपाय और भागवत सेवा उपेय है।

१५२- चेतन के कल्याण के लिये अवैष्णवों का त्याग, भागवतों का परिग्रह, भगवत-स्वीकार, आचार्याङ्गीकार और स्वस्वरूप का ज्ञान होना अत्यन्तावश्यक है।

१५३- प्रपन्न वैष्णवों को प्रपन्नों का संग, प्रपन्नों के बनाये हुए ग्रंथों का अभ्यास, आचार्याभिमान और मंत्र-द्वय अनुसंधान करते हुये प्रपत्ति पथ पर चलने की चेष्टा शीघ्र अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट की प्राप्ति कराती है। यह चेतन अपने प्रयत्न से यदि भगवान को प्राप्त करना चाहे, तो इसके बड़े से बड़े साधन उपाय नहीं हो सकते, यदि स्वयं भगवान जीव को अपनाना चाहें तो इसके अनंतानंत महा-महा अपराध भी प्रतिबन्धक नहीं बन सकते अर्थात् अननुष्ठान और अनुष्ठान पर प्रभु-अप्राप्ति और प्राप्ति निर्भर नहीं है, भगवत कृपा के अधीन है, अस्तु स्वगत स्वीकार से परगत स्वीकार श्रेष्ठ है।

१५४- मंत्र-मंत्रदेवता और मंत्र-प्रदाता में एक बुद्धि से भक्ति करने पर ही प्राप्य की प्राप्ति होती है, बांस की वंशी के तीनों पर्वों को शलाका से फोर कर एक कर लेने से ही उसमें मधुर-मधुर मन-मोहनी धुनि निकलती है।

१५५- भगवान वही है, जो संत, श्रुति और गुरु की महिमा का महत्व धराधाम में प्रकट करे। गुरु वही है, जो भगवत् भागवत तथा श्रुति-शास्त्र का महत्व विस्तारित करे। श्रुति-शास्त्र वही है, जिसमें भगवद्भक्ति का विस्तार रूप से गायन करते हुये श्री हरि, गुरु और संत की महिमा गाई गई हो। संत वही है, जो अपने से श्रुति-शास्त्र की रक्षा करते हुये श्री हरि-गुरु के शरण में होकर भागवद्धर्मानुसार चलने के लिये चेतन को प्रेरणा दे और स्वयं सन्मार्ग (प्रपत्ति पथ का) का त्रिकरण अनुसरण करे।

१५६- भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों सच्चिदानन्दमय एक ही तत्व हैं, फिर भी स्नेह पूर्ण नाम का आधार लेने से क्रमश: तीनों

का विशेष रूप से दर्शन हो जाता है अर्थात् नाम के अधीन तीनों हैं।

१५७- सच्चिदानन्दमय भगवान में देही-देह विभाग नहीं है अर्थात् उनकी देह उसी तत्व की है, जिसकी उनकी आत्मा।

१५८- भगवान हमारे हैं, इस कल्पना मात्र में कितना आनन्द है, यदि जीव सद्गुरु-वाक्यों में प्रीति-प्रतीति करके अपने और भगवान के सहज सम्बन्ध में आसक्त होकर तदनुसार भाव पूर्ण भावना में मग्न हो जाय, तो वह सुख अवर्णनीय होगा।

१५९- भागवद्धर्मानुसार चलना अधिकारी चेतन की जीवन पद्धति है और प्रेम पूर्ण भजन करना स्वरूपानुसार स्वभाव है।

१६०- भागवतापचार करके कालान्तर में त्राण पाना अपचार किये गये भक्त की शरणागति करके कृपा प्राप्ति करने पर ही संभव है। भक्त जिसे अपना लेते हैं, उसका बाल बाँका करने की किसी में सामर्थ नहीं है। श्री हरि-चक्र, संहारमूर्ति शंकर का त्रिशूल, इन्द्र-वज्र और कालदण्ड भी उसके सामने निष्प्रभ (निस्तेज) हो जाते हैं।

१६१- भगवान भक्तों के हैं और किसी के नहीं, भगवान की उभय विभूतियों सहित उन पर भागवतों का वैसा ही सहज अधिकार है, जैसे पिता की सम्पत्ति पर औरस पुत्र का।

१६२- भागवत परायण, मुमुक्षु तथा बुभुक्षु के भेद से दो प्रकार के होते हैं। भगवच्चरणार्थी और कैवल्यार्थी, भेद से मुमुक्षु भी दो तरह के होते हैं। भगवच्चरणार्थी के भी उपासक और प्रपन्न नामक दो भेद होते हैं। आर्त और दृप्त भेद से प्रपन्न दो प्रकार के होते हैं। आर्त प्रपन्न भी दो तरह के होते हैं।

१- संसार ताप से अत्यन्त संतप्त।

२- भगवदनुभव के बिना प्राण धारण करने में अशक्त।

वास्तव में वही उच्चातिउच्च अधिकारी है, जो वैष्णव कुल में उत्पन्न होकर आचार्य प्रसादित वार्ता रूपी दुग्ध पीकर पुष्ट बन गया है। भागवतों के कृपा प्रसाद का पात्र बनकर भगवद्विरह को क्षण भर भी सहने में असमर्थ है, अनन्य प्रयोजन होकर अत्र-तत्र भगवत्कैंकर्य करना

ही परम पुरुषार्थ समझ रक्खा है। सब प्रकार के अभिमान से शून्य है। भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम में अबाधित स्मरण करता रहता है, वैष्णवीय सर्व सम्पति से संयुक्त होकर भी अकिंचनता से अलग नहीं होता। अकृत करण भगवदापचार, भागवतापचार और असह्यापचार का स्वप्न भी नहीं देखता, जिसे भगवान "श्री जी" के समान अपना आलिंगन एवं सर्वस्व समर्पण करके भी तृप्ति का अनुभव नहीं करते, किंबहुना जिसके बिना अपनी आत्मा को नहीं सहते।

नोट :- वेदेतिहास, पुराणानुमोदित परमाचार्यों के प्रबन्ध रूपी आकर से विनिसृत वाङमुक्ताओं को चुनकर १६२ मणियों की माला सुमेरु सहित भगवत कृपा से दास के द्वारा गुंफित होकर भगवद्भागवतानुरागियों के हृदय का हार बनना चाहती है। यह अपना विश्वास है, कि जो इसे धारण करेगा परमाचार्यों की कृपा से वह स्वयं कौस्तुभमणि के सदृश भगवान के हृदय को हर्षण करने वाला हार बन जायगा।

---०---

१३६. वैष्णव में श्री-हरि-गुरु-संत-शास्त्र की निन्दा सुनने की अक्षमता

१- वैष्णव श्री-हरि-गुरु एवं संत-शास्त्र की अनुकूलता ग्रहण करने से ही विष्णु प्रिय वैष्णव पद प्राप्त किये हैं, अस्तु इनकी निन्दा श्रवण करने में वे असहिष्णु होते हैं।

२- वैष्णव यदि उपरोक्त जनों की निन्दा श्रवण करने में सक्षम हो जाय, तो तुरन्त ही आर्य धर्म के नाश हो जाने से जगत विपर्यता को प्राप्त कर भ्रष्ट हो जाय, अस्तु वे निन्दा से बचे रहते हैं।

३- भगवद्भागवत की निन्दा सुनना निन्दा करने के समान है, जो शास्त्रानुसार महा अपचार है, अस्तु वैष्णव जन इससे सर्वदा बचे रहते हैं।

४- अपने आराध्य देव एवं तदीय जनों का अपचार संसारी लोग भी नहीं करते, तो वैष्णव अपने इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति करने वाले महानुभावों की निन्दा कैसे श्रवण करें।

५- वैष्णव का चित्त अपने इष्ट के निन्दा सुनने के देश-काल में रहता ही नहीं, उसे क्षण मात्र का भी अवसर अप्राप्य है। उसका सारा समय प्रभु स्मरण के लिये अर्पित है। कहीं कुभाग्य से कुअवसर मिला तो वह कान मूँद कर वहाँ से चल देता है। समर्थ वैष्णव हुआ तो निन्दा करने वाले को सीख दिये बिना नहीं रहता।

॥ समाप्तम् ॥

अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी रामहर्षण दास जी महाराज का अनमोल भक्तिसाहित्य

प्रकाशन विभाग
श्री रामहर्षण कुंज, नयाघाट, परिक्रमा मार्ग, श्री अयोध्या, जिला-साकेत (उ.प्र.) २२४१२३.